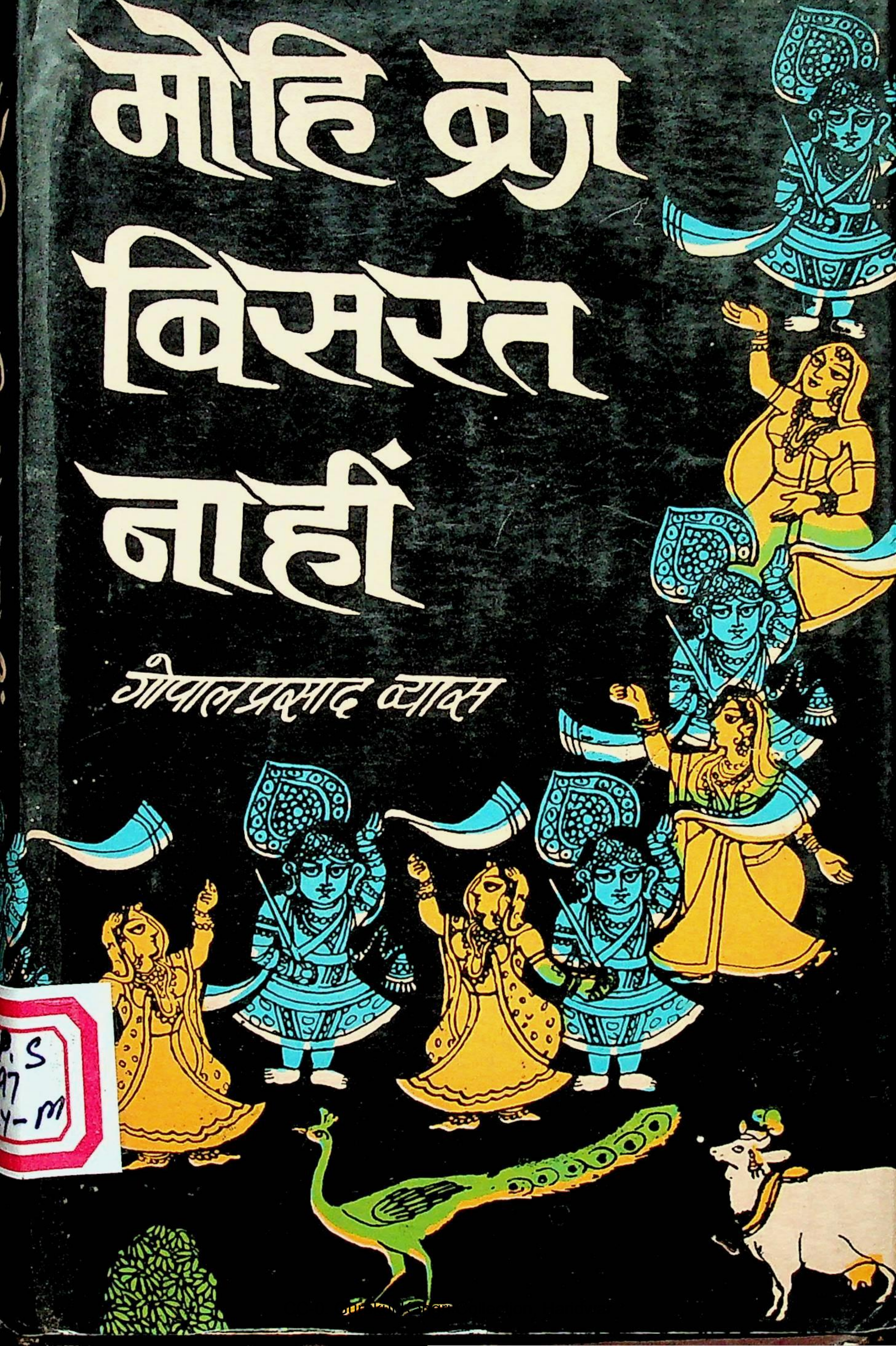
मोहि ब्रज बिसरत नाहीं

गोपालप्रसाद व्यास



प्रस्तुत पुस्तक में व्रज के स्वर्णिम अतीत की गौरव-गाथा के साथ-साथ उसके साहित्य का ललित समीक्षण अनूठी शैली में निरूपित किया गया है। व्रज का शिल्प-सौष्ठव, कला-वैभव और शब्द-सम्पदा का स्तवन पुस्तक का मनोरम अभीष्ट है। जैसे व्रज की कविता अपने बिम्बों, प्रतीकों और रस-रीतिमयी चित्रात्मकता के लिए प्रसिद्ध है, जैसे व्रज अपनी भक्ति-भावना, रूप-सौन्दर्य और भाषा के निखार के साथ साथ लोक और साहित्य की जीवन्त कल्पना से परिपूर्ण है, वैसे ही यह पुस्तक व्रज भूमि, व्रज भाषा, व्रज साहित्य, व्रज की केन्द्रीय संस्कृति और व्रज के साहित्यकारों एवं कलाकारों की महिमा-मंडित छवि को विभिन्न शैलियों में सरसता के साथ प्रस्तुत करती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो भी व्रज में है वह इस पुस्तक में भी है। इसमें व्रज-भक्त लेखक का आत्म निवेदन है, भाव-विभोर समर्पण है, व्रज की कविता जैसी माधुरी और निखराई है तथा साहित्य के समीक्षक के समान गहराई से व्रज समुद्र का आह्लादित अवगाहन भी है। व्रज के इतिहास में यह कृति निश्चय ही एक प्रकाशस्तम्भ का कार्य करेगी।

मोहि ब्रज बिसरत नाहीं

मोहि ब्रज बिसरत नाहीं

गोपालप्रसाद व्यास

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

मूल्य : १००.००
मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

MOHI BRAJA BISARAT NAHIN : Gopalprasad Vyas

काहे न लेत उबार ?

मैं व्रजवासी हूं—ठेठ ! वहां पैदा हुआ, जहां जीवन की अन्तिम वेला में कभी सूरदासजी बसे थे। प्राचीन नाम जिसका परासौली है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे परम रासस्थली मानकर आदि वृन्दावन कहा। शिक्षा-दीक्षा मथुरा में हुई। आगरा में साहित्यिक वृत्ति अपनाई। यों देश-विदेश घूमा हूं और आज भारत की राजधानी दिल्ली में रहते हुए भी सैंतीस वर्ष हो गए लेकिन व्रज मेरे रोम-रोम में ऐसे बसा है कि—ऊधो, मोहि व्रज बिसरत नाहीं ! मेरे जन्म स्थान की चन्द्रसरोवर, मेरी मां की जन्मस्थली के राधाकुण्ड और कृष्णकुण्ड, मेरे पिता के जन्मस्थान पर गिरिराज महाराज का मुखारविन्द, सुरम्य गोवर्धन पर्वत और उसकी पावन तलहटी के दृश्य जो मैंने बालपन में देखे थे, वे सबके सब अभी तक मेरे मन-मानस में लीला कमलों की तरह खिले हुए हैं। मथुरा के विश्रामघाट पर हमारा मंदिर, लोल लहरें लेती हुई यमुना, सती के बुर्ज से सावन-भादों की धारा में मेरा कूदना, उथले पानी में गेंदबच्ची, रेतिया पर कबड्डी, स्वामीघाट पर पटा-बनेंटी, भूतेश्वर पर दंड-कसरत, ग्वारिया बाबा और मूंगाजी के यहां संगीत की शिक्षा, नवनीत चतुर्वेदी के पास पिंगल, अलंकार, रस और ध्वनि की शिक्षा, संईया चाचा की दुकान पर नायिका भेद और पढ़न्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, कन्हैया लाल पोद्दार और डा० सत्येन्द्र से साहित्य, पुरातत्त्व और व्रज की कलाओं का अध्ययन, सुकवि रामलला से मित्रता और शतरंज-मार्तण्ड कृष्ण कवि का स्नेह—क्या इस जीवन में कभी भुलाया जा सकता है ? मेरे व्रज संस्कार, संस्कृति तथा साहित्य के यही सब दर्शनीय मंदिर और वंदनीय मूर्तियां हैं।

आगरा आया तो महेन्द्र जी की कृपा से 'साहित्य संदेश' में संपादकीय कार्य मिला। यहां रहते थे बाबू गुलाबराय, हरिशंकर शर्मा, केदारनाथ भट्ट, श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त और भाई विद्याभूषण अग्रवाल। मुझ प्राचीन को यहां नवीनता मिली। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम प्राप्त हुआ। साहित्य के साथ-साथ देश के प्रति भी अपने कर्तव्य का बोध हुआ। काव्य शास्त्र के साथ-साथ समीक्षा में भी पैठ हुई। व्यंग्य-विनोद का अनमोल रत्न भी यहीं हाथ

लगा। आगरा और मथुरा के लोगों को एकत्र करके पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा से सन् चालीस में भाई जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के साथ मिलकर ब्रज साहित्य मंडल का निर्माण किया।

परिस्थितियों के प्रवाह में जीवन न जाने कहां-कहां भटका और मेरी कलम ने न जाने कितने-कितने मोड़ लिए। दर्जनों पुस्तकें लिखीं। लोकप्रियता भी प्राप्त हुई, राज और समाज में सम्मान भी मिला। परन्तु मन का भटकाव ठहरा नहीं। मुझे हर समय यही लगता रहता है कि जो मुझे लिखना चाहिए वह अभी तक नहीं लिख पाया, जो करना चाहिए, वह अभी तक इस देह से सम्पन्न नहीं हुआ। मन को समझाने के लिए कभी-कभी मान लेता हूं कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सेवा ही मुझसे प्रभु को लेनी थी। वह जितनी संभव हुई—की। परन्तु मन अभी भी मानने को तैयार नहीं है। वह कहता है—भारत तो ब्रज है। उसकी सेवा ही भारत की सेवा है। सच्चा साहित्य तो ब्रज भाषा में लिखा गया है। सूरदास जैसी साधना न कर सको तो बिहारी जैसा चमत्कार ही करके दिखाओ। मैंने इन दोनों कार्यों की शुरुआत की। सूर सागर का व्युत्पत्ति कोश तैयार करने के लिए हजारों चिटों पर सूर सागर के शब्द, उनके अर्थ और व्युत्पत्ति लिख डाली। वासुदेवशरण जी कहते-कहते चले गए, पर वह काम पूरा नहीं हुआ। अब क्या होगा? बिहारी सतसई पर भी काम शुरू किया। ढाई सौ दोहों की व्याख्या—रीतिकालीन संदर्भ में तुलनात्मक व्याख्या करते हुए लिख डाली। पर वह काम भी बीच में रुक गया। कापियां बस्तों में बन्द हैं। आंखें कमजोर हो गई हैं, अब कौन उसे पूरा करेगा? अपनी किशोरावस्था में मैंने ब्रज भाषा के हजारों टकसाली कवित्त और सवैये कभी कंठस्थ किए थे। सोचा था कि कभी फुर्सत में हबीबुल्ला खां के हजारा की तरह इन दुर्लभ कवित्त-सवैयों का संग्रह हिन्दी जगत को भेंट करूंगा, लेकिन वह स्वप्न भी पूरा नहीं हुआ। देखते-देखते ब्रजभाषा की स्थिति में परिवर्तन आ गया। लोग उसे भूलने लगे। पाठ्यक्रमों में उसकी उपेक्षा होने लगी। अब तो न ब्रजभाषा के पढ़ने वाले रह गए हैं और न पढ़ाने वाले! हमने अपनी इस दुर्लभ साहित्य संपदा को ठुकरा दिया। हिन्दी आगे बढ़ी और ब्रजभाषा के बल पर बढ़ी। लेकिन अब ब्रजभाषा को जनपदी भाषा बताया जा रहा है। उस ब्रजभाषा को जो कभी समूचे देश की साहित्य-भाषा रही है। उस ब्रजभाषा को जिसने हिन्दी को सुन्दर और स्वस्थ आधार दिया है। यदि ब्रजभाषा के साहित्य को हिन्दी से निकाल दिया जाय तो उसके पास उल्लेखनीय बचेगा ही क्या? ब्रज की संस्कृति, उसका कला वैभव, उसकी जीवन-पद्धति और विदेशी भाषाओं तथा संस्कृतियों से लोहा ले-लेकर अपने को अक्षुण्ण और प्रवाहमान बनाए रखने वाली उसकी अदम्य भावना का ही यह पराक्रम है कि आज भारत की अस्मिता कायम है। परन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व ही नहीं, उसके बाद भी, ब्रजभूमि, उसके साहित्य, संस्कृति और कलाओं की जैसी

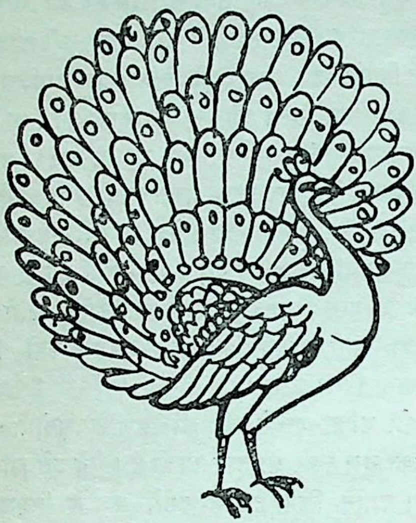
उपेक्षा हुई है, उसका इतिहास में दूसरा उदाहरण नहीं। आगरा और मथुरा के बीच में बसा हुआ यह ब्रज प्रदेश शताब्दियों से विदेशियों के आक्रमण का शिकार रहा और यहां के कला-वैभव को नष्ट करने में विदेशियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। स्वतन्त्रता के बाद समूचे भारत में विकास की लहर दौड़ी, लेकिन ब्रज उपेक्षित ही रहा। न यहां की प्रतिभाओं को प्रोत्साहन मिला और न कलाकारों को। गरीबी की सीमा रेखा से नीचे कितने ब्रजवासी जीवन-यापन कर रहे हैं, इसका कभी किसी ने लेखा-जोखा नहीं लिया। यहां के ऐतिहासिक भग्नावशेषों तथा साहित्य और कला के तीर्थों की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। देश में उद्योग-धन्धों का जाल फैला, लेकिन ब्रज के लोग उससे वंचित ही रह गए। मेरे मन में इसकी बड़ी टीस है। इसी टीस ने इस पुस्तक को जन्म दिया है। मुझमें जो उद्वेग है, उसी को मैंने इस पुस्तक के अध्यायों में जहां-तहां वर्णित किया है। अगर मैं कहीं कोई कड़वी बात कह गया हूं तो मुझे क्षमा किया जाए।

इस पुस्तक में विविध कलाओं, भक्ति-आन्दोलनों और ब्रज के भूगोल और इतिहास का जिक्र है, लेकिन इसका मूल स्वर साहित्य का ही है। मैंने इसे ललित साहित्य की विधा में लिखने का प्रयत्न किया है। मैं इसमें ब्रज के विप्रलम्भ शृंगार और सूरदास सहित भक्त कवियों के साहित्य पर भी अलग से लिखना चाहता था परन्तु यह संभव नहीं हो सका। कभी फिर अवसर आया तो ऐसा करने का विनीत प्रयत्न अवश्य करूंगा। इस समय तो ब्रजभाषा प्रेमियों, ब्रज साहित्य के मर्मज्ञों और ब्रज के बुद्धिजीवियों से यही निवेदन है—"सूरदास, अब बूड़त है ब्रज, काहे न लेत उबार।"

—गोपालप्रसाद व्यास

व्यास निवास
बी-५२, गुलमोहर पार्क
नई दिल्ली-११००४९

फाल्गुन पूर्णिमा
२० मार्च, १९८१



क्रम

वन्दे !
ब्रज वसुन्धराम्

वन्दे ! ब्रज वसुन्धराम्। वह ब्रज वसुन्धरा जो भूतल पर साक्षात् गोलोक के रूप में अवतरित हुई है। वह ब्रज वसुन्धरा जिसके मठ, मन्दिर, मूर्ति, महन्त, महात्माओं और महापुरुषों की महिमा युग-युग से वन्दनीय रही है। वह ब्रज वसुन्धरा जहां ब्रह्मा, शिव, सूर्य, सप्तऋषि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, दुर्वासा, नारद, सौभरि, पिप्पलाद, जमदग्नि, परशुराम, गौतम, पराशर, व्यास, शुकदेव व अंबरीष आदि मुनियों ने तपस्या की है। वह ब्रज वसुन्धरा जो निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभीय, हरिदासी, चरणदासी तथा ब्रज के गुप्त स्थलों और ब्रजेश्वर की लीलाओं के गुप्तातिगुप्त रहस्यों को भूतल पर प्रकट करने वाले वल्लभ आदि संप्रदायों द्वारा सेवित, व्याख्यायित, लालित और आराधित रही है। वह ब्रज वसुन्धरा जो पग-पग पर वन-उपवनों, ताल-तमालों, सघन द्रुमलताओं, कदम्ब-कुंजों, कुण्ड-सरोवरों, यमुना के कूल-कछारों और गिरिगोवर्धन की महान् महिमा से मंडित है। वह ब्रज वसुन्धरा जिसके सम्बन्ध में स्वयं देवाधिदेव इन्द्र ने नारायण से प्रार्थना करते हुए कहा था—

तावां न्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमवभाति भूरि।

—इन्द्र गोलोकनाथ श्रीकृष्ण और शेष भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि

हे प्रभो, हम देवता लोग, जहां पर मनोहर सींगों वाली असंख्य गौएं चरती हैं तथा बहुत से विद्वानों द्वारा जिसकी कीर्ति गायी जाती है, जहां वृष्णि वंशी प्रकाशमान हो रहे हैं, वहां चलें।

वह ब्रज वसुन्धरा जिसे मानव जाति की उत्पत्ति का केन्द्र माना गया है। वह ब्रज वसुन्धरा जिसे ऋग्वेद में स्वर्गादपि गरीयसी बताते हुए कहा गया है—

अपावृत 'व्रजिनी' रुत्स्वर्गाद्विदुरो मानुषीदव आवः।

—गोधन से घिरी ब्रज वसुन्धरा स्वर्ग से भी उत्कृष्ट ज्ञात होती है, जिसके मनुष्यों में देवों की तेजस्विता है। वह ब्रज वसुन्धरा जिसके नामकरण के सम्बन्ध में वैराज ने अपनी व्यापक दृष्टि से विश्व की विराटता के प्रथम बार दर्शन किए थे, उसी को कालान्तर में वैराज-विरजा का क्षेत्र या 'ब्रज' कहा गया है।

वह ब्रज वसुन्धरा जो वेद विद्या की पावनस्थली थी, जहां के पराक्रमी शूरवीरों ने देश-देशान्तर के दुर्द्धर्ष दानवों का दलन करके ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त की थी और जहां के महाजनों के छोटे-बड़े जलपोत तथा सार्थवाह अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों तक भारतीय पण्य को पहुंचाकर देश की श्रीवृद्धि करते रहते थे। वह ब्रज वसुन्धरा जिसके सम्बन्ध में मनु महाराज ने लिखा है—**स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः।**' अर्थात् यहां के विद्वानों से समस्त विश्व के मानव चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करें। वह ब्रज वसुन्धरा जिसके सम्बन्ध में रसखान कहते हैं—

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन
जो खग हों तो बसेरो करौं नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

वह ब्रज वसुन्धरा जिसकी रज देवों को भी दुर्लभ है—'ब्रज की रज दुर्लभ देवन कौं।' इस ब्रज की रज को सिर पर धारण करने को तो सभी लालायित हैं लेकिन ब्रज की ललनाएं तो स्वयं ब्रज-रज ही बन जाना चाहती हैं। वे आज भी गाती हैं—

बिरज की रज हम च्यों न भये बीर
बिरज की रज होतीं हरि के चरनन लगती, रामा।
उड़ि-उड़ि लागतीं हम सांवरे सरीर
मोहन प्यारे के सरीर
बिरज की रज हम च्यों न भये बीर !!

ब्रज की रज का माहात्म्य भक्तों के लिए तो इससे भी बढ़कर है। उनकी मान्यता यह है कि यह रज मुक्ति को भी मुक्ति प्रदान करने वाली है—

मुक्ति कहे गोपाल सों मेरी मुक्ति बताय
ब्रज रज उड़ि मस्तक लगें, मुक्ति, मुक्त ह्वै जाय।

जिस ब्रज की ऐसी महिमा गायी गयी है, आखिर वह ब्रज है क्या ?

संस्कृत में 'ब्रज' शब्द नहीं है और ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली में 'व्रज' शब्द नहीं है। ब्रजभाषा में 'व' के स्थान पर 'ब' का ही प्रयोग होता है अर्थात् संस्कृत का व्रज ही ब्रजभाषा में ब्रज हो गया है। इस व्रज का अर्थ है—जाना, चलना, प्रगति करना (नाविनीतर्व्रजेद् धुर्यैः); पधारना, पहुंचना, दर्शन करना (मामेकं शरणं व्रज); विदा होना, सेवा से निवृत्त होना, पीछे हटना, (समय का) बीतना (इयं व्रजति यामिनी त्यज नरेन्द्र निद्रारसम्)। यह धातु प्रायः 'गम्' या 'धा' धातु की भांति प्रयुक्त होती है। अनु (व्रज) बाद में जाना, अनुगमन करना, सम्पन्न करना, सहारा लेना; आ (व्रज)—आना, पहुंचना; परि (व्रज)—भिक्षु व साधु के रूप में इधर-उधर घूमना, संन्यासी या परिव्राजक हो जाना; प्र (व्रज) निर्वासित होना, सांसारिक वासनाओं को छोड़ देना, चौथे आश्रम में प्रविष्ट होना अर्थात् संन्यासी हो जाना। (संस्कृत-हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे)

जब यह व्रज शब्द विसर्ग से युक्त होकर व्रजः बन जाता है तो इसके अर्थ होते हैं—समुच्चय, संग्रह, रेवड़, समूह (नेत्र व्रजाः पौरजनस्य तस्मिन् विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः); ग्वालों के रहने का स्थान, गोष्ठ, गौशाला, आवास, विश्राम-स्थल, सड़क, मार्ग, बादल, मथुरा जनपद। सम् (व्रजः)—अंगना, युवती, व्रज में रहने वाली स्त्री, ग्वालन (व्रजः) अजिरम्—गोशाला; किशोरः, नाथः,—मोहनः, वरः वल्लभः—कृष्ण के विशेषण। (संस्कृत-हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे)

इसका हमारा व्यास-भाष्य यह है कि ब्रज की ओर जाओ, ब्रज की तरफ चलो, ब्रज के तत्व-दर्शन को समझने में प्रगति प्राप्त करो। ब्रज में आप पधार गए, पहुंच गए, अच्छा हुआ। आओ बांकेबिहारी के, गिरिवरधारी के, कुंजबिहारी के दर्शन करो। जगत् में यही सार है कि माया मोह से जुदा हो जाओ, प्रभु की सेवा के हेतु सबसे निवृत्त हो जाओ, एषणाओं से पीछे हटो। समय बीता जा रहा है। यह कार्य बाद में करने योग्य नहीं है, जितना जल्दी हो सके, भक्ति पथ का अनुगमन करो, सेवा सम्पन्न करो क्योंकि ब्रजेश्वर का आश्रय ही सर्वोपरि है। अगर साधु बनकर मधुकरी वृत्ति ही अपनानी है तो, रे मन मेरे! ब्रज के परिव्राजक बनो।

अब लीजिए व्रजः शब्द को। ब्रज भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का समुच्चय है। इसमें से भक्ति-रस का संग्रह करो। सम्पूर्ण ब्रज एक बृहद गोशाला है। इस गोष्ठ में गायों अर्थात् इन्द्रियों के समूह विचरते हैं। ये साक्षात् उपनिषद् रूप हैं—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।' इस अमृत तुल्य दुग्ध का आकंठ पान

करो, मानव जीवन सफल हो जाएगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रज केवल एक शब्द नहीं है, भारतभूमि का मात्र एक भूमिखण्ड नहीं है, यह तो वह कल्पवृक्ष है जिसमें नाना प्रकार के सुफल लगे हुए हैं। यह तो वह मानसरोवर है जिसके सम्बन्ध में महात्मा कवि-जन कह गए हैं—

चलु सखि तिहि सरोवर जाँहि
मुक्ति-मुक्ता अम्बु के फल तिनहिं चुन-चुन खाँहि।

इसी अविस्मरणीय ब्रज के सम्बन्ध में सूरदास जी ने उद्धव के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से कहलवाया है—

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाँहि।

मैं इसी ब्रज की रज का एक छोटा-सा कण हूं। कोई पूर्वजन्म का सुकृत्य ही रहा होगा कि गोवर्धन पर्वत की सुरम्य तलहटी में बसी परम रासस्थली (परासौली) में मेरा जन्म हुआ। मेरे पितामह पं० मुरलीधर शास्त्री जतीपुरा में, श्री गोवर्धननाथ के मुखारविन्द के निकट निवास करते थे और मेरे नाना ब्रज के सुप्रसिद्ध नन्दन (गिरवर) रासधारी राधाकुण्ड के निवासी थे। मेरी शिक्षा-दीक्षा मथुरा में हुई। ब्रज की आधुनिक राजधानी आगरा मेरा प्रथम साहित्यक कार्यक्षेत्र बना। दिल्ली के गुलमोहर पार्क में जहां आजकल व्यास-निवास है, किंवदंतियों के अनुसार इसी रास्ते से भगवान् श्रीकृष्ण का रथ पाण्डवों के किले में प्रायः आया-जाया करता था। मेरे पिता (पं० ब्रजकिशोर शास्त्री) का कहना है कि दिल्ली ब्रज ही है। उनके वैष्णव मत के अनुसार जहां-जहां श्रीकृष्ण का रथ गया है, वहीं-वहीं ब्रज है। इस तरह मैं जन्म से लेकर अब तक पूर्ण रूप से ब्रजवासी ही हूं। मेरे प्यारे कवि सोम ठाकुर के शब्दों में मैं भी यही मानता हूं—

ब्रजधाम महा अभिराम जहां
घनस्याम से आनंदरासी भये।
ब्रज-व्योम के 'सोम' गुबिन्द कलानिधि
राधिका-प्रेम प्रकासी भये।
हम कौन से दान दये जु अबै
नंदनंदन के अभिलासी भये।
किन पूरब पुन्य प्रतापनु तें
ब्रज में जनमे ब्रजवासी भये।

ब्रज की महिमा और ब्रज की कविता मेरे रोम-रोम में बसी है। इसी से प्रेरित होकर सन् चालीस में अपने गुरुजनों और मित्रों के सहयोग से मैंने ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना में किंचित् योगदान किया था। पूरा एक युग अर्थात् अपनी युवावस्था के बारह वर्ष—मैंने ब्रज साहित्य मण्डल की सेवा में समर्पित किए हैं।

सम्भवतः इसी कारण ब्रज साहित्य मण्डल के कृपालु मित्रों ने मुझ जैसे 'पण्डितन केरि पछिलगा' को इसके अध्यक्ष पद को ग्रहण करने का आदेश भी दिया। ब्रज साहित्य मण्डल और हिन्दी साहित्य सम्मेलन अथवा ब्रजभाषा व हिन्दी दो अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं। मेरे लिए हिन्दी गंगा है तो ब्रजभाषा यमुना। जैसे प्रयाग में यमुना ने अपने अस्तित्व को गंगा में समाहित कर दिया वैसे ही ब्रजभाषा ने हिन्दी को पुनीत और प्रांजल बनाने के लिए अपने को हिन्दी में समर्पित कर दिया है। मैंने समान भाव से दोनों की सेवा की है। मेरे साहित्य-शरीर की ये दो आंखें हैं जिनसे मैंने कर्मपथ को पहचाना है। मेरे लिए हिन्दी सूर-तुलसी, मीरा-कबीर, नानक-सुन्दरदास, रसखान-घनानन्द और भारतेन्दु हरिश्चंद्र का भक्ति-स्तवन ही है। ब्रज-भावना ने ही मुझे हिन्दी-साहित्य, हिन्द की संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के दर्शन कराये हैं। मैं ब्रज वसुन्धरा में भारतमाता के दर्शन करता हूं। वह भारतमाता जो सुजलां है, सुफलां है, शस्य श्यामलां है, वही मेरे लिए वन्दे ब्रज वसुन्धराम् भी है।

ब्रज :
ससीम नहीं, असीम

ब्रज की सीमारेखा के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कुछ भाषा के आधार पर हैं तो कुछ का आधार सांस्कृतिक है। ब्रज के अनुरागी भक्तजनों ने भावना के आधार पर भी इसका सीमांकन किया है। अंग्रेज सरकार के समय में उत्तर-प्रदेश को जब आगरा और अवध का नाम दिया गया तब उसके पीछे यही तथ्य काम कर रहा था कि इस यूनाइटेड प्रोविंसेज का आधा भाग ब्रज का है और आधा अवध का। लेकिन ब्रज की सीमाओं को न तो नदियों और पर्वतों की शृंखलाओं में आबद्ध किया जा सकता है और न राज्यों के विस्तार और उनके संकुचन में। ब्रज केवल एक भूमिखण्ड नहीं है। न वह देश की सप्तपुरियों में से एक मथुरा के प्रभावक्षेत्र में आने वाला या प्रशासनिक दृष्टि से कोई छोटा या बड़ा क्षेत्र ही है। इसकी सीमारेखाओं को निश्चित करने से पहले हमें लोक और शास्त्र में उल्लिखित तथ्यों की ओर ध्यान देना होगा।

वैष्णव-मत के अनुसार ब्रज साक्षात् गोलोक धाम है। यह सम्पूर्ण पृथ्वी मधु-दैत्य की खाल होने के कारण अपवित्र मानी गयी है। इस भूमि पर नित्य गोलोक में वास करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण कैसे अवतरित हो सकते थे? भारतभूमि में जब धर्म ग्लानि की सीमा तक पहुंच गया तो उसके अभ्युत्थान के लिए प्रभु ने धराधाम को धन्य करने का निश्चय किया। इसके लिए अपने समस्त गोलोक को पहले पृथ्वीतल पर उतार दिया। जिस स्थान पर इस गोलोक को उतारा गया वही भक्तों की भावना के अनुसार ब्रजधाम है। इसकी परिधि चौरासी कोस मानी

जाती है। यहां सभी तीर्थों ने आकर उस समय वास किया था। देवमुनि, गंधर्व और श्रीकृष्ण की सहस्रों सहचरियां गोप-भार्या और गोप-कन्याओं के रूप में अवतरित हुईं और उनके सखा और पार्षदों ने भी कृष्णागम से पूर्व व्रज भूमि में जन्म लिया। साक्षात् विष्णुप्रिया लक्ष्मी राधिका जी भी व्रज में अवतरित हुईं। तब सच्चिदानन्द-स्वरूप आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कंस के कारागार में देवकीपुत्र के रूप में प्रकट हुए। उनकी भावमयी, विभूतिमयी और लोकोत्तर लीलाएं क्योंकि इसी चौरासी कोस की परिधि में घटित हुईं इसलिए इस परमपावन अलौकिक भूमि को ही व्रजेश्वर की लीला भूमि होने के कारण 'व्रज' की संज्ञा से विभूषित किया गया और माना गया—

व्रज चौरासी कोस में, चार गांव निज धाम
वृन्दावन अरु मधुपुरी, बरसानौ नंदगाम।

वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों एवं अनुयायियों ने उक्त मान्यता के अनुसार व्रजयात्रा एवं वन यात्रा की जो परम्पराएं विकसित कीं वे सब चौरासी कोस की ही परिक्रमा करती दृष्टिगत होती हैं। उनके मतानुसार भारत की परिक्रमा ही पृथ्वी-परिक्रमा है और व्रज चौरासी कोस की परिक्रमा समस्त तीर्थों के सुफल सहित भारत की परिक्रमा। प्रतिवर्ष हजारों नहीं, लाखों की संख्या में भारत के सभी प्रदेशों के वैष्णव-जन इन यात्राओं में सम्मिलित होते हैं और श्रीमद्वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु आदि के अनुसार व्रज के प्रकट और अप्रकट युगलप्रिया-प्रियतम के जो विहार-स्थल, लीलाधाम एवं भक्तों के साधना केन्द्र हैं उनके दर्शन करके अपने को गोलोकधाम का अधिकारी बनाते हैं।

कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि में व्रज इतना व्यापक नहीं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-साक्ष्य श्री गोवर्धन पर्वत की सात कोस की परिक्रमा को ही व्रज की इयत्ता मान लेते हैं। कुछ ने इस सात कोस की परिधि को भी सीमित कर दिया है। उनके अनुसार गोवर्धन पर्वत में श्रीकृष्ण द्वारा प्रकट की गयी मानसी गंगा की परिक्रमा ही सम्पूर्ण व्रज की परिक्रमा है—

मानसी गंगा श्री हरदेव
गिरिवर की परिकम्मा देव।

व्रज सीमाओं के संक्षिप्तीकरण के अनुसार भारत के करोड़ों नर-नारी आज ऐसे हैं जो केवल मथुरा-वृन्दावन को ही व्रज समझते हैं। होली-दीवाली, डोल और हिंडोले, जन्माष्टमी और यमद्वितीया पर मथुरा-वृन्दावन के दर्शन कर लिए और व्रज यात्रा हो गयी। वृन्दावन तत्त्व को ही व्रज मानने वालों की मान्यता यह है—

राधाकुण्डे, कृष्ण कुण्डे,
गिरि गोवर्धन।

माधुर माधुर मुरली बाजे,
ए ही वृन्दावन।

भक्त सम्प्रदायों की मान्यताओं को यहीं विराम देते हुए हम ब्रज परिक्रमा के दूसरे दौर में चलें। ब्रज की सीमाओं में गहरे पैठने वाले विद्वानों का मत है कि ब्रज को आज जो केवल चौरासी कोसों में रूढ़ कर दिया गया है, वह उचित नहीं है। क्योंकि वाराहपुराण में कहा गया है—**'पश्चिमस्योपहारकम्, दक्षिणे जन्तु संज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे।'** पूर्व में हास्यवन, पश्चिम में उपहार वन, दक्षिण में जन्हु वन और उत्तर में भुवन वन है। सम्भवतः इसी आधार पर निम्नांकित दोहे की रचना हुई है—

इत बरहद उत सौन हद, उत सूरसेन को गांम
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मण्डल धाम।

दोहे में आया हुआ बरहद अलीगढ़ जिले का एक कस्बा है और हास्यवन—हास्यः हासी हसायनः ही है। सोनः हरियाणा प्रदेश के गुड़गांव जिले का वह स्थान है जिसे उपहार वन कहा गया है। दक्षिण का सूरसेन वह स्थान है जिसे आजकल बटेश्वर कहते हैं। इसे जन्हुवन कहा गया है। इसी प्रकार उत्तर में स्थित भुवनवन को भी ब्रज मण्डल की सीमा में माना गया है। उक्त सीमाएं यद्यपि चौरासी कोस के ब्रज से कुछ अधिक विस्तृत हैं, तथापि इसकी व्यापकता के सम्बन्ध में महाभाष्यकार पतंजलि ने जो दिशादर्शक निर्देश दिया, वह ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार—'ब्रज मण्डल चौरासी कोस तक ही सीमित नहीं था। तब इसकी सीमाएं आदर्श (सुलेमान) गिरि से पूर्व, कालवन, बक्सर के पास ताड़वन से पश्चिम तथा हिमालय से दक्षिण और विन्ध्य के उत्तर में फैली हुई थीं। इस वर्णन के अनुसार तत्कालीन ब्रज उत्तर में गोपेश्वर से लेकर दक्षिण में गोहाड या ग्वालियर (गवालय) तक तथा पश्चिम में वैराट से लेकर राजस्थान के पूर्व में काली नदी (कासगंज) तक था।

प्राचीन मान्यता के इस दूसरे पड़ाव से हम आगे चलें। मथुरा के बाद आगरा, शिकोहाबाद, एटा, इटावा और मैनपुरी। दूसरी तरफ चलिए तो मथुरा से भरतपुर, सवाई माधोपुर (हिण्डौन) और करौली। मथुरा से फिर चलिए तो हाथरस, अलीगढ़, खुर्जा, गाजियाबाद और बुलन्दशहर (का कुछ भाग)। फिर लौटिए मथुरा और आगे बढ़िए तो होडल, पलवल, बल्लभगढ़ और दिल्ली का वह भाग जहां नन्दगोप-सुता योगमाया का मन्दिर है। वहां ब्रज के नन्द मेहर की महरौली है, जिसके आसपास विस्तृत भूभाग में गूजरों (गोचरों) की अनेक बस्तियां बसी हुई हैं, जो ब्रज भाषा बोलते हैं और गोवर्धन की पूजा करते हैं। मथुरा से फिर चलिए धौलपुर, ग्वालियर, झांसी और ओरछा का समस्त बुन्देलखण्ड जो सनातन काल से ब्रज भाषा और ब्रज साहित्य का अनुपम केन्द्र रहा है। भाषा,

संस्कृति, साहित्य और कला की रचनाधर्मिता के अनुसार ये सभी स्थान वृहत्तर ब्रज की सीमा में ही आते हैं।

मैं विद्वानों का ध्यान विनम्रता के साथ इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूं कि जैसे यहां की बोली—बोली नहीं, (ब्रज) भाषा है, उसी प्रकार भारत के लोकमानस में ब्रज को प्रदेश नहीं, एक देश के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इसकी परिभाषा करते हुए लोकगायकों ने गाया है—

ब्रज मण्डल 'ब्रस' दिखाय रसिया
तेरे बिरज में मोर बहुत हैं,
कुहुकत मोर फटै छतियां।
तेरे बिरज में गाय बहुत हैं,
पी-पी दूध भयी पठियां।

स्पष्ट है कि ब्रज उस देश का नाम है जहां मोर नाचते हैं और जहां की गाएं इतना पुष्टिदायक दूध देती हैं कि उन्हें पीकर पुरुष ही पट्ठे नहीं होते, नारियां भी पट्ठियां हो गयी हैं। अब इसको यों देखें कि भारत में मोर कहां-कहां नाचते हैं। करील कहां-कहां पैदा होते हैं। कदम्ब के वृक्ष सहज में ही किस भूमि पर लग जाते हैं। यमुना नदी कहां-कहां तीर्थभाव से बहती है और कहां-कहां की भूमि उस महत्ता से मण्डित है जो अपनी मिट्टी को ब्रज-रज का सादृश्य सुलभ करती है। यदि इस दृष्टि से वैज्ञानिक अनुसंधान किया जाए तो ब्रज की सीमाओं का शायद सम्यक् मूल्यांकन हो सके।

जहां तक हमारा विचार है, ब्रज ससीम नहीं, असीम है। देह में जो स्थान हृदय का होता है, वही स्थान भारत में ब्रज का है। हृदय अपने आप भले ही मुट्ठी भर का हो, लेकिन जैसे वह अपने स्पंदन द्वारा समस्त अंगों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को संचारित करता है, वैसे ही ब्रज भारतीय संस्कृति का संचरण-केन्द्र है। इससे ही समस्त देश की शिराओं में रस, कला और अध्यात्म की धाराएं प्रवाहित होती हैं। ब्रज केवल एक भूमिखण्ड ही नहीं है, वह भारत की अजस्र सम्वेदन शक्ति है। राष्ट्र की प्राणस्थली है। यहीं से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाएं और लीलाएं जीवन-रस लेकर हमारे राष्ट्र जीवन को आप्यायित करती रहती हैं। ब्रज भारतीय जीवन की उस रसनिष्पत्ति का केन्द्र है जिसने राष्ट्र के कला, साहित्य, संगीत, अध्यात्म, पुरातत्व और सुखमय जीवन की मनहर पद्धति को समूचे राष्ट्र में तरंगायित किया है। ब्रज भारतीय जीवन की उस संस्कृति का नाम है जिसने भक्ति और ज्ञान को नए रसमय आयाम दिए हैं और पग-पग पर जगत की भौतिकता, मायावाद से उत्पन्न अहंकारिता को मीठे उपहास से झटककर परे कर दिया है। जैसे सच्चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म परमात्मन् प्रभु को रूप-रंग, गुणों और आकार की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नित्य, लीलामय

और अनन्त प्रेरणामय ब्रज को भी किसी सीमा रेखा में बद्ध नहीं किया जा सकता। ब्रज तो रसनिधि रत्नाकर है। इसमें असंख्य भावधारा रूपी नदियां स्वयं समाहित हुई हैं। ब्रज तो क्षीरसागर में शेषशायी, लक्ष्मीपति भगवान श्रीकृष्ण की लीला-भूमि वह महासमुद्र है जिसके सम्बन्ध में भावुक जन कह गए हैं—

ब्रज समुद्र मथुरा कमल वृन्दावन मकरन्द,
ब्रज बनिता सब पुष्प हैं मधुकर गोकुलचन्द।

ब्रज केवल भूमि हो तो उसकी सीमाएं आंकी जाएं। समुद्र की थाह लेने की सामर्थ्य किसमें है? मथुरा ईंट-पत्थर की नगरी नहीं, शासन या दुःशासन का केन्द्र नहीं, वह तो भगवान् का लीलाकमल है। यहां की ललनाएं अस्थि-चर्ममय नहीं, सुस्मित पुष्पों के समान हैं। इनकी सुरभि से सम्पूर्ण ब्रज-वृन्दावन सुरभित हो रहा है और इस रस के भोक्ता कोई कामजन्य कायाधारी नहीं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इस सीमा में जो आता है, वह ब्रज है। इस भावना से जो भाव-विभोर है, वही ब्रजवासी है। इस असीम को सीमा में कौन बांध सकता है?

●

ब्रजभाषा : इतिहास और व्यापकता

हिन्दी का प्रबल पक्षधर होते हुए भी मैं अत्यन्त विनयपूर्वक यह निवेदन करना चाहता हूं कि ब्रजभाषा हिन्दी की एक बोली नहीं है। बोली की संज्ञा तो मेरठी जुवान को बखशी गई है। बहुत दिनों तक हिन्दी को 'खड़ी बोली' के नाम से पुकारा जाता रहा है। लेकिन इसका यह आशय भी नहीं है कि हिन्दी ब्रजभाषा की ही एक बोली है। दोनों का उद्‌भव और विकास शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश परम्परा से हुआ है। दोनों एक ही वृक्ष की हरी-भरी शाखाएं हैं। दोनों की लिपि, शब्द सम्पदा और व्याकरण कुछ अपवादों को छोड़कर लगभग एक जैसे ही हैं। दोनों का इतिहास भी थोड़े-बहुत अन्तर से लगभग एक ही समय से प्रारम्भ हुआ है। प्राचीनकाल में अनेक महापुरुष, साहित्यकार और राजनेता ऐसे हुए हैं जिनकी रचनाओं, चिट्ठी-पत्रियों और दस्तावेजों में हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों की बराबर बानगी मिलती है। फर्क इतना ही है कि ब्रजभाषा ने अपने जन्म से थोड़े दिनों बाद ही साहित्यिक भाषा की मान्यता प्राप्त कर ली जबकि हिन्दी को यह श्रेय १९वीं शताब्दी के अन्त तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राप्त हुआ। उस समय भाषाओं के अस्तित्व का कृत्रिम झगड़ा नहीं था, न आज की तरह अनुसन्धानकर्ताओं की भीड़ मैदान में थी कि भाषाओं के बखेड़ों की बारीकी से छानबीन करके भाषायी एकता को खण्डित किया जाए और परस्पर अलगाव के बीज बोए जाएं। खड़ी-बोली बोली के रूप में विकसित होती रही और ब्रजभाषा अबाध रूप से अपनी साहित्य-धर्मिता से सुरभित होती हुई सम्पूर्ण

भारत में अपनी सुरभि बिखेरती गई। ब्रजभाषा की वही साहित्य-सम्पदा आज हिन्दी के इतिहास की धरोहर है। ब्रजभाषा का अर्थ ही पुरानी हिन्दी है।

इस प्राचीन हिन्दी या ब्रजभाषा का इतिहास लगभग १००० वर्ष पुराना है। सुविधा के लिए हम इसे तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—आदिकाल (१०००-१५२५), मध्यकाल (१५२५-१८००) और आधुनिक काल (१८००-अब तक)।

इससे पूर्व कि ब्रजभाषा के अथाह समुद्र का अवगाहन करें, एक स्वीकृत तथ्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि राष्ट्रभाषा, राजभाषा और साहित्य की भाषा के जिन अलंकृत पदों के लिए हिन्दी आज तक संघर्षरत है, वे विभूतिमती ब्रजभाषा को एक समय सहज ही सुलभ थे। भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व हिन्दू नरेशों द्वारा राज-काज में इसका व्यवहार हुआ करता था। मुगलों से पूर्व दिल्ली के बादशाहों ने भी अपने फरमानों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। मुगल बादशाहों ने अपने राजकाज में जनसम्पर्क की भाषा के रूप में प्रायः ब्रजभाषा को अपनाया है। भारत के सन्त हिमालय से लेकर हैदराबाद, त्रावणकोर और केरल तक और दूसरी तरफ अमृतसर से लेकर उड़ीसा, बंगाल और असम आदि प्रदेशों तक इसमें रचनाएं करके और व्यवहार में उपयोग करके राष्ट्रभाषा के रूप में इसका सन्देश गांव-गांव और नगर-नगर पहुंचा रहे थे। साहित्य की भाषा के रूप में तो केवल शौरसेन प्रदेश अथवा उत्तर-भारत ही नहीं, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल और उड़ीसा आदि में भी इसका प्रचलन था। वहां के तत्कालीन मूर्धन्य साहित्कारों ने ब्रजभाषा में रचनाएं करके अपनी साहित्यिक गरिमा को सम्पुष्ट ही नहीं किया वरन् राष्ट्रीय एकता की भावधारा में अपना महत्वपूर्ण योगदान भी दिया है।

इसके कई कारण थे। सबसे प्रमुख तो यह कि ब्रजभाषा उस ब्रजभूमि की भाषा थी, वैष्णवजनों के परमाराध्य श्रीकृष्ण ने 'मचल-मचल मांगी जिहि में हरि माखन-रोटी।' इसी भावना से प्रेरित होकर वैष्णव आचार्यों ने भगवान श्रीकृष्ण के मुख से निस्सृत पवित्र वाणी (ब्रजभाषा) के प्रचार में अपना योगदान देना पुण्य कार्य समझा। इन आचार्यों के श्रीमुख से निकली हुई भाषा उनके लक्ष-लक्ष शिष्यों द्वारा समूचे भारत में शीघ्र ही शिरोधार्य कर ली गई। दूसरे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भारत की केवल राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था को ही नहीं, संस्कृति, साहित्य और भाषा को भी सदा से प्रभावित करने वाली भारत की हृदयस्थली ब्रजभूमि ही है। आगरा और दिल्ली अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत की सत्ता के केन्द्र-बिन्दु रहे हैं। यहां बोली जाने वाली, या गढ़ी जाने वाली, या नौकरियों के लिए पढ़ी जाने वाली भाषाओं ने ही सदा राजभाषा का दायित्व संभाला है और निखिल राष्ट्र ने उन्हीं को प्रायः राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार

भी किया है। ब्रजभाषा की अखिल भारतीयता में यह कारण भी कम महत्व का नहीं है। तीसरी और सबसे प्रमुख बात है—ब्रजभाषा का सहज माधुर्य। जैसी मिठास और शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य ब्रजभाषा में है, विश्व के प्रमुख भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार वैसा संसार की अन्य भाषाओं में दुर्लभ है।

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन,
त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई।

ब्रजभूमि की तरह मिठलौनी ब्रजभाषा ने भी केवल भावुक भक्तों का ही नहीं, सहृदय साहित्यिकों, संगीतज्ञों, चित्रकारों और कला-मर्मज्ञों का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट किया है।

ब्रजभाषा के इतिहास में उतरने से पूर्व हम इस तथ्य की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि ब्रजभाषा ने राज्याश्रय पाकर भी राजधर्म और राजसंस्कृति के हाथों अपने को नीलाम नहीं किया। जैसे हिन्दी आज अंग्रेजी से जूझ रही है वैसे ही अपने समय में ब्रजभाषा को भी फारसी-अरबी आदि विदेशी भाषाओं से टक्कर लेनी पड़ी थी। लेकिन आज की तरह तब भाषा के लिए राजनैतिक लड़ाइयां नहीं लड़ी जाती थीं। न ब्रजभाषा-भाषियों तथा साहित्यकारों को तब के साम्राज्यवादी और सामन्तवादी युग में वैसी सुविधाएं ही प्राप्त थीं। उन्होंने साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में यह ऐतिहासिक युद्ध लड़ा और विजय प्राप्त की। राग-रागिनियों में निबद्ध तथा श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं में सराबोर पदों, मंझे हुए दोहों, मनभावन सोरठों, रससिक्त सवैयों और भाषा साहित्य तथा कला-कारीगरी से परिपूर्ण टकसाली कवित्तों ने उस काल में ऐसा समा बांधा कि तलवारों के बल पर चलाई गई बादशाही जबान और तहजीब के पैर भारत में नहीं जम पाए। इतना ही नहीं, ब्रजमाधुरी का रंग रसलीन, रसखान, रहीम और नजीर अकबराबादी आदि मुसलमान कवियों पर ऐसा चढ़ा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे हिन्दी के सूत्रधार के मुख से निकल पड़ा—'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दू वारिये।" स्थान की सीमा का ध्यान न होता तो हम इन श्रेष्ठ कवियों की कविता की बानगी से आपको वंचित न रखते। अब दक्खिनी हिन्दी ब्रजभाषा के मुसलमान कवि, भक्ति-ज्ञान और रीति साहित्य पर अनेक शोध प्रबन्ध उपलब्ध हैं। इनका रसास्वादन करके हम ब्रजकाव्य सरोवर में गहरे से गहरे गोते लगा सकते हैं।

हिन्दी के साथ इस समय यह असुविधा है कि उसके साहित्य पक्ष को जितना पुष्ट और प्रांजल होना चाहिए वैसा फिलहाल नहीं हो पा रहा। ब्रजभाषा के साहित्यकारों की तरह उनमें लगन, सामर्थ्य या दूरदर्शिता नहीं है, ऐसा तो मैं नहीं कहता, लेकिन सत्ता, सुविधा, प्रकाशन और प्रचार की मृग-मरीचिका ने उन्हें भटका अवश्य दिया है। आज का हिन्दी साहित्यकार जब तक अंग्रेजी के वर्चस्व

को ब्रजभाषा की तरह चुनौती नहीं देगा तब तक अंग्रेजी के विरुद्ध संघर्ष में हिन्दी को पूरी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। ब्रजभाषा ने अपने समय की भाषायी और साहित्यिक चुनौतियां स्वीकार की थीं इसीलिए वह जन-साधारण से लेकर प्रबुद्ध जनों तक को अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर सकी।

भाषाओं के विकास का अपना एक अलग क्रम है। पहले भाषा शनैः शनैः अपना रूप ग्रहण करती है और तदनन्तर उसमें साहित्य का निर्माण होता है। लेकिन हमारे यहां भाषा के इतिहास-लेखकों ने हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में भाषा के अस्तित्व को न परख कर भाषायी इतिहास को पीछे से पीछे ले जाने की धुन में शब्दों या क्रियापदों आदि को जहां-तहां बिखरा हुआ पाकर इनका प्रारम्भ-काल नियत कर दिया है। हमने पहले कहा ही है कि ब्रजभाषा का इतिहास १००० ई० के आसपास प्रारम्भ होता है, लेकिन इसके आरम्भिक काल में हमें उसकी बिखरी हुई शब्दावली, पदांश अथवा मिश्रित भाषा के रूप ही जहां-तहां दृष्टिगोचर होते हैं। 'ब्रज भाषा' शब्द का सबसे प्रथम प्रयोग सन् १५८७ ई० में गोपाल कवि की 'रस-विलास टीका' में मिलता है। कवि ने लिखा है—'मरु-भाषा निर्जल तजि करि 'ब्रजभाषा' चीज।' यहां ब्रजभाषा शब्द ध्यान देने योग्य है। इसका आशय यही है कि ब्रजभाषा गोपाल कवि से पहले प्रचलित तो थी और साहित्यकार अपनी स्वतन्त्र रचनाओं और टीकाओं में उसका उपयोग भी करते थे, लेकिन किसी ने इसको ब्रजभाषा की संज्ञा नहीं दी थी। अगर दी भी हो उसके प्रमाण अभी तक प्रकाश में नहीं आए। उदाहरण के लिए, १५२५ ई० में थेगनाथ ने गीताभाषा की रचना की और इसमें ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया, लेकिन इसे ब्रजभाषा का नाम नहीं दिया।

आइए, अब ब्रजभाषा के इतिहास के कुछ पन्ने पलटें। गोरखनाथ के गद्य को ब्रजभाषा का प्राचीनतम उदाहरण माना जाता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन इनका समय १०वीं शताब्दी मानते हैं। उनके गद्य का एक उदाहरण देखिए—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। है कैसे परमानन्द ? आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि कौ। जिन्ही के नित्य गावै हैं सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हों गोरख सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत है। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ ? आत्मजोति निश्चल है, अन्तहकरन जिन्हकौ अरु मूल द्वार तें छह चक्र जिन्हि तीकी तरह जानैं। अरु जुगकाल कल्पइनि की रचनातत्व जिनि गायौ। सुगन्ध की समुद्र तिन्हि कौ मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हें तो सतगुरु अम्है तौ सिष सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।"

इसी तरह हिन्दू, जैन, मुसलमान सभी पर समान प्रभाव डालने वाले नाथ-पंथियों एवं सूफी कवियों की कृतियों में हमें आरम्भिक ब्रजभाषा के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। लेकिन १३-१४वीं शताब्दी में हजरत निजामुद्दीन और उनके

शागिर्द अमीर खुसरो ने व्यवस्थित रूप से ब्रजभाषा की ऐतिहासिक सेवा की है और संगीत तथा अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग करके उसे संगीत के क्षेत्र में देशव्यापी बना दिया है। अमीर खुसरो का एक दोहा देखिए—

गोरी सोवै सेज पै, मुख पै डारै केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देस॥

हजरत निजामुद्दीन के एक अन्य शिष्य बाबा फरीद शकरगंज की रचनाओं में भी ब्रजभाषा का पुट देखने को मिलता है।

ब्रजभाषा के प्रथम कवि के रूप में विद्वान लोग अमीर खुसरो का नाम आदर के साथ लेते हैं। यह ब्रज के एटा जिले के पटियाली ग्राम में सन् १२५४ ई० में पैदा हुए थे। भारतीय संगीत में ख्याल गायकी की परम्परा अमीर खुसरो ने ही डाली थी और संगीत की भाषा के लिए इन्होंने ब्रजभाषा का ही वरण किया था। तभी से अब तक संगीत में ब्रजभाषा की परम्परा अबाध रूप से जारी है। श्री विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर तथा श्री भातखण्डे द्वारा सतत विकासमान यह ब्रज-संगीत-परम्परा आज भी देशदेशान्तर के रसिकों में ब्रजवाणी का सम्मोहन फैलाती जा रही है। तानसेन की संगीत रचनाओं में तो ब्रजभाषा की बहार है ही, भारतीय संगीत में सदारंग, नवरंग से लेकर बड़े गुलाम अली खां तक सभी ने केवल इन ख्यालों में ही ब्रजभाषा को नहीं गाया, स्वयं भी अपनी गायकी के लिए ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं। अमीर खुसरो की राग बहार की एक संगीत बन्दिश देखिए—

सगन बिन फूल रही सरसों
अंबवा फूटे, टेसू फूले
कोयल बोले डार-डार
और गोरी करत सिंगार
मालनिया गुदवा ले आई करसों
तरह-तरह के फूल लगाए
ले गुदवा हाथन में आए
निजामुद्दीन के दरवज्जों पर
आवन रह गए आशक रंग
और बीत गए बरसों।

साहित्य से भी पहले ब्रजभाषा संगीत क्षेत्र में प्रचलित और प्रसिद्ध हो गयी थी। संगीत यानी गेयता ही तो ब्रजभाषा की अमूल्य निधि है। मध्यकाल के लगभग सभी ब्रजभाषा के कवि अच्छे गायक भी थे। स्वामी हरिदास आदि वृन्दावनी संगीताचार्यों तथा वल्लभी सम्प्रदाय के सूरदास, कुम्भनदास और छीत स्वामी आदि सभी उच्चकोटि के गायक थे। इनकी सुमधुर स्वर लहरी से ही ब्रजभाषा

को सहज मधुरिमा प्राप्त हुई है। तानसेन और बैजूबावरा आदि बड़े-बड़े राज दरबारी संगीतज्ञ इन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों की कोटि में आते हैं।

हिन्दी के अभ्युत्थान के काल में विभिन्न विचारधाराओं के कवियों ने ब्रज-भाषा में ही पद और गीत लिखे। दोहे प्रारम्भ में सन्तों और सूफी कवियों ने ही शुरू किए, जिनमें अमीर खुसरो और अब्दुल कुद्दूस गंगोटी, शेख फरीद, हाजीकली प्रेमी, वर्धन और रहीम प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तुलसीदास की 'कवितावली' और 'गीतावली' में ही नहीं, ध्यान देने पर उनके 'रामचरितमानस' में भी और जायसी के 'पद्मावत' में भी ब्रज के चालू सिक्के खोजने पर मिल जाते हैं। कबीर की वाणी तो ८० प्रतिशत ब्रजभाषा ही है। इसी प्रकार १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानेश्वर की रचनाओं में जहां-तहां ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। लेकिन नामदेव में ब्रजभाषा का रंग कुछ अधिक निखर कर आया है—

जहं तुम गिरवर तहं हम मोरा, जहं तुम चन्दा तहं हम चकोरा।
जहं तुम सरवर तहं हम माछी, जहं तुम दीया तहं हम बाती।
बेल के पाती शंकर पूजा, नामदेव कहे भाव न दूजा।
जोग जाप तें कहा सरै तीरथ-व्रत-नाना।
ओसे प्यास न भागि है, भजिए भगवाना।।

नामदेव से तुकाराम तक आते-आते मराठी सन्तों की ब्रजभाषा काफी निखर गई थी। सन्त तुकाराम का एक दोहा देखिए—

लोभी के चित धन बसै, कामिनि के चित काम,
माता के चित पूत बसै, तुका के मन राम।

प्रसंगवश यहां हम बता दें कि छत्रपति शिवाजी के पुत्र सम्भाजी भी ब्रज-भाषा में लिखा करते थे। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

दोउ दुहूं पहरावत चूनरि, दोऊ दुहूं सिर बांधत पागें।
दोऊ दुहूं को सिंगारत अंगु, गर लगि दोऊ दुहू अनुरागे।
संभु सनेह समाय रहें रस ख्यालन में सिगरी निसि जागे।
दोऊ दुहुंन सों मान करें, पुनि दोऊ दुहूंन मनावन लागै।।

महाकवि भूषण का शिवाजी के दरबार में सम्मान और 'इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सुअम्भ पर' कवित्त का शिवाजी द्वारा बावन बार सुना जाना इस बात का द्योतक है कि उस समय महाराष्ट्र में भी ब्रजभाषा अच्छी तरह समझी जाती थी।

पंजाब तो ब्रजभाषा के प्रयोग में सबसे अग्रणी था। वहां की साहित्यिक भाषा एक प्रकार से ब्रजवाणी ही थी। गुरु नानक देव से लेकर सिख धर्म के दसों गुरुओं ने ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं। गुरु गोविन्दसिंह ब्रजभाषा साहित्य के बड़े

मर्मज्ञ और गुणग्राहक थे। उन्होंने स्वयं भी ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं। उनके दरबार में ब्रजभाषा के बावन कवि थे। गोविन्दसिंह जी ने 'विद्याधर' नाम से एक ग्रंथ का संकलन किया था जिसका वज़न नौ मन था। इसके सम्बन्ध में 'सूरजप्रकाश' नामक ग्रंथ में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

बावन कवि हुज़ूर गुरु रहत सदा ही पास।
आवैं हांहि अनेक ही, कवि जसलै घन रास॥
तिन कवियन वाणी रची लिखि कागद तुलवाया।
नौ मन हुए तोल मंहि सूखम लिखत लिखाया।
'विद्याधर' तिस ग्रंथ को नाम धर्‌यो कर प्रीत।
नाना विध कविता रची रखि-रखि नौ रस रीत।
मच्यो जंग गुरु संत बड़ रह्यो ग्रंथ सो बीच।
निकसे आनन्दपुर तज्यो लूट्‌यो पुनि मिलि नीच॥
पृथक-पृथक पन्ने हुते लूट्‌यो सु ग्रंथ बिखेर।
इह थल रह्यो न इमि गयो जिससे मिल्यो न फेर॥

महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में भी ब्रजभाषा के अनेक कवि रहते थे। उनमें मथुरा के ग्वाल कवि का नाम उल्लेखनीय है। कहते हैं कि ग्वाल कवि को एक-एक छन्द पर एक-एक लाख रुपया तक पुरस्कार मिला था।

पंजाब ही क्यों, भारत की राजधानी पर भी एक समय ब्रजभाषा का प्रेममय अधिकार था। बादशाह मोहम्मद तुगलक के आश्रय में तीन हजार कवि रहते थे जिनमें अधिकांश ब्रजभाषा के थे। जब तुगलक ने दिल्ली से हटाकर दौलताबाद (देवगिरी) को अपनी राजधानी बनाया तब ब्रजभाषा आन्ध्र और महाराष्ट्र में भी फैल गई।

तनिक ब्रजभाषा की व्यापकता तो देखिए। गुजरात की भुजकच्छ स्टेट में ब्रज-साहित्य के विधिवत् अध्ययन के लिए एक पाठशाला थी, जो १९वीं शती के अन्त तक चलती रही। गोलकुण्डा के किले में भी ब्रजभाषा का दखल हो चुका था। किले में तत्कालीन चित्रों के नीचे ब्रजभाषा के छन्द अंकित हैं। ये चित्र आज भी वहां के संग्रहालय की शोभा बढ़ा रहे हैं। इन चित्रों के नीचे अंकित ब्रजभाषा का एक उदाहरण देखिए—

राग महं रंग महं आखर प्रसंग महं,
जाकी मति नित सनी रहति सुबास में।
'सविता' सुमति करी दान औ कृपान जाकी,
कीरति विदित भूमि भूतल अकास में॥
औरों गुन साहिब कुमार कुल्लिशाह ज्यू के,
फैले चहुं ओर भार खण्ड आसपास में।

कथा में अधिक कहें, पंथवु पथिक कहैं,
अंदर खबानी कहें बानी आम खास में ।।

आधे साजि भूषण वसन कुल्लिशाह आजु,
आंगन में आवत सबन मन भाइगे,
निज-निज मन्दिर ते आई चन्द्रमुखी सबें,
देखत बनक नैन आनन्द अघाइगै ।
काहू ओर हेरत हँसत हेरैं काहू ओर,
काहू ओर बोलि भौंह काहूं सो चलाइगै ।
ऐसी भांति 'सविता' चुराइ चित्र सालनि कै
मंद-मंद पायन धरत द्वार आइगे ।

शेखसादी यों मूलतः फारसी के कवि थे, लेकिन उनकी कविताओं में भी ब्रजभाषा का उल्लेखनीय पुट है । उदाहरणार्थ—

जाइ बाजार में बेंच दिया तब दोनों भई मन में हरखानी ।
बा-नर न्याय किये अति सुन्दर दूध को दूध और पानी को पानी ।।

अठारहवीं शताब्दी में हैदराबाद में एक कवि अहमदुल्ला हुए हैं । उन्होंने रीतिकालीन परम्परा पर ब्रजभाषा काव्य की रचना की है । एक उदाहरण देखिए—

नाभी ते नागिनि चली, सुधा सिन्धु मुख गैल ।
कल कण्ठी पाटी उटी, हटी उरोजन सैल ।।

जहांगीर, शाहजहां, औरगंजेव, बहादुरशाह आदि मुगल सम्राटों ने भी ब्रजभाषा के कवियों को न केवल प्रोत्साहन दिया बल्कि स्वयं उसमें रचना भी की । औरंग-जेब के दरबार में मतिराम, वृंद, कालिदास, कृष्ण सामन्त आदि अनेक ब्रजभाषा के कवि थे । मौलाना शिबली नेमानी ने आलमगीरी भाषा के बारे में लिखा है— "ब्रजभाषा की जिस कदर इसके जमाने में तरक्की हुई, मुसलमानों ने जिस कदर इसके जमाने में हिन्दी किताबों के तरजुमे किए और खुद जिस कदर ब्रजभाषा में नज्म व नसर लिखी, किसी जमाने में इस कदर हिन्दी की तरह इल्तैफात नहीं जाहिर किया गया था।"

किंतु ये सब तो पिछली बातें हैं । मुगलों से पूर्व भी ब्रजभाषा दिल्ली के बाद-शाहों के मन को काबू किए हुए थी ।

राजस्थान की मीरा तथा अनेक संत कवियों जैसे सुन्दरदास, रैदास, रज्जब आदि ने भी ब्रजभाषा में काव्य रचना की है । रामस्नेही सम्प्रदाय, घटनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, अघोरपंथ, शिवनारायणी, चरणदासी और राधास्वामी सम्प्रदाय के मानने वालों ने भी अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा को

अपनाया है।

बिहार में जिस समय भोजपुरी और मैथिली के साहित्य का विकास हो रहा था, उसी समय बोधा जैसे समर्थ कवि भी वहां ब्रजभाषा का साहित्यवर्धन कर रहे थे। असम, उड़ीसा और बंगाल तो 'ब्रजबुलि' के घर ही थे। ब्रजबुलि में ऐसे भी सन्त कवि हो गए हैं जो निश्चित परिणाम में ब्रजपद रचना करके ही अन्न-जल ग्रहण किया करते थे। इस तरह पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमाचल से लेकर हैदराबाद तक ब्रजभाषा का सर्वत्र बोलबाला रहा है। हैदराबाद से आगे कर्नाटक में भी ब्रजभाषा विद्यमान थी। त्रावनकोर राज्य के नरेश स्वाति तिरुनाल की रचनाएं कर्नाटक संगीत तक ही सीमित नहीं थीं, उन्होंने ब्रजभाषा में भी रचनाएं की हैं। वे ब्रजभाषा को मलयालम लिपि में लिखा करते थे। उदाहरण—

जमुना किनारे प्यारे कदम्ब तरे मोहन
बांसुरी बजावे सखि कुंज भवन में।
मोर पिच्छ गरे माल मकराकृत कुंडल
मुकुटादिक भूखन शोभा देत तन में।
पद्मनाम दीनबन्धु मेरो ताप हरे,
प्रभु गोपीनाथ गिरधर राजो मेरे मन में।

त्रावनकोर ही नहीं, समूचे केरल में ब्रजभाषा की सुरभि बगरी हुई थी। पद्मनाभपुरम में कुछ ऐसे चित्र मिले हैं जिनका परिचय ब्रजभाषा के दोहों के रूप में दिया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे गुजराती के प्रेमानन्द, ओरवा और 'नरसैया' हों, या मैथिली के विद्यापति हों, अथवा उड़ीसा, बंगाल, असम आदि पूर्वोत्तर प्रदेशों के ब्रजबुलि में रचना करने वाले वैष्णव कवि हों, सभी पर ब्रजभाषा के काव्य ने अपनी प्रेमासक्ति और वचनमाधुरी का प्रकाश फैलाया है। केवल काव्यभाषा के ही रूप में ब्रजभाषा देश की साहित्यिक भाषा नहीं थी, इसने समग्र भारत के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, संगीतात्मक, चित्रकलात्मक और वास्तुशिल्प तक में अपनी कृतियों द्वारा श्रीवृद्धि की है।

इस काव्य माधुरी का जो चतुर्दिक प्रकाश हुआ, उसकी चकाचौंध में ब्रजभाषा का गद्य पनप नहीं सका। सुललित पद्य की ऊंचाइयों के कारण ब्रजभाषा का गद्य प्रवाह निरंतर उपेक्षित होता गया। लेकिन उसने हिन्दी के गद्य के लिए आधारशिला अवश्य रख दी। ब्रजभाषा का गद्य ही विकसित होकर अन्ततः वर्तमान हिन्दीगद्य में परिवर्तित हुआ है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, गोस्वामी विट्ठलनाथ, गोकुलनाथ और हरिराम जी के विविध गद्यग्रन्थों ने हिन्दी गद्य का पथ प्रशस्त किया है। बाद में ऐसा भी समय आया, जब हमारे साहित्यकार पद्य के लिए ब्रजभाषा को और गद्य के लिए हिन्दी को

मनोनुकूल मानते थे।

ब्रजभाषा गद्य का प्रारम्भ १२वीं-१३वीं शताब्दी से माना जाता है। यह परम्परा १९वीं शताब्दी तक विविध रूपों में चलती रही। सुविधा के लिए ब्रज के गद्य को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथमकोटि में धर्म और शास्त्र की चर्चा करने वाले ग्रंथ आते हैं। इनमें हठ योग सम्बन्धी ग्रंथ, वैष्णव धर्मावलंबी ग्रंथ और अध्यात्म ब्रह्म ज्ञान सवन्धी ग्रंथ हैं।

हठयोग के ग्रंथों में 'गोरखनाथ-गणेश गोष्ठी', 'महादेव-गोरखनाथ संवाद' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरे वर्ग में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के 'शृंगार रस मंडन' और विष्णुप्रिय की 'भक्ति रत्नावली' का नाम लिया जा सकता है।

तीसरे वर्ग के अध्यात्म भाग में 'ज्ञान मंजरी' आदि रचनाओं को समाविष्ट किया जा सकता है।

ये तीनों प्रकार के ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर रचे गए हैं और इन्हें शास्त्र निरूपण और सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से ही लिखा गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में वाक्य प्रायः अव्यवस्थित और अपूर्ण दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी शैली शास्त्रार्थपरक है। इनमें प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। इसके विपरीत गोरखपंथियों की ब्रजभाषा अपेक्षाकृत सरल है। दूसरे वर्ग के ग्रंथ प्रायः वर्णनात्मक हैं। इनमें वार्ताएं, उपाख्यान, पुराण, नीति कथाएं, अष्टयाम और ऐतिहासिक वृत्त आदि की रचनाएं सम्मिलित हैं। वास्तव में ब्रजभाषा गद्य का उक्त स्वरूप ही व्यावहारिक, प्रसादगुणयुक्त और तत्कालीन समाज में प्रचलित संस्कृत, उर्दू, फारसी और लोक-प्रचलित मुहावरों व कहावतों से संयुक्त होकर उत्कृष्ट कोटि के गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। तीसरे वर्ग में प्रसिद्ध ग्रन्थों की ब्रजभाषा टीकाएं आती हैं। विद्वानों ने वार्तिक **वचनिकाओं** को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया है। सबसे अधिक टीकाएं 'बिहारी सतसई' की हुई हैं। रत्नाकर जी के अनुसार ब्रजभाषा में 'बिहारी सतसई' की २० टीकाएं उपलब्ध हैं। इसी प्रकार केशवदास की 'कविप्रिया' पर भी ब्रजभाषा गद्य में लिखी दो टीकाएं मिलती हैं। 'रामचंद्रिका' पर भी जानकीप्रसाद जी ने ब्रजभाषा में टीका लिखी है और 'रसिक प्रिया' पर सरदार कवि की टीका तो प्रकाशित भी हो चुकी है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर अयोध्या के महंत बाबा रामचरन तथा काशी-नरेश ईश्वरीनारायण सिंह की टीकाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मतिराम आदि के ग्रन्थों की भी स्फुट टीकाएं जहां-तहां प्राप्त हुई हैं।

इन टीकाओं का मूल भाव तो अर्थ की व्याख्या ही अधिक है, लेकिन इनमें विविध प्रसंगों, रस, अलंकार, ध्वनि, शब्दशक्ति और नायिका-भेद आदि का बोध भी स्थान-स्थान पर कराया गया है। रीतिकाल के ग्रन्थों की टीकाओं में काव्य-

शास्त्र और उसके विविध अंगों की चर्चा विस्तार से देखने को मिलती है।

टीकाओं के सम्बन्ध में हमें इतना ही निवेदन करना है कि इनमें गद्य का सहज स्वरूप नहीं मिलता। प्रायः पंडिताऊपन, शास्त्रार्थपरक पद्धति, शब्दों की तराश और टीकाकार की पाठक को चमत्कृत करने वाली वृत्ति ही अधिक पाई जाती है। कभी-कभी इनमें इतना विस्तार और अनावश्यक प्रसंगों की भरमार होती है कि पाठक का मन ऊबने लगता है। गूढ़ तथ्यों का उद्घाटन और शंका-समाधान ही प्रायः इन टीकाओं के प्रमुख विषय हैं।

इन टीकाओं का गद्य वार्ताओं के रोचक और वर्णनात्मक गद्य की तुलना में इसलिए उल्लेखनीय है कि उस समय कथा, वार्ता और वचनामृत तक ही ब्रज-भाषा सीमित नहीं थी, अपितु दुर्बोध साहित्यिक ग्रंथों और शास्त्रों की टीका के रूप में भी उसका प्रयोग होता था।

स्थान संकोच के कारण हम वार्ताओं के ललित उदाहरण यहां प्रस्तुत नहीं कर रहे। लेकिन पत्र-लेखन के रूप में तब ब्रजभाषा किस रूप में लिखी जाती थी, इसका एक उदाहरण अवश्य देना चाहते हैं। यह सोलहवीं शताब्दी का पत्र है, जिसे श्री हितहरिवंश ने अपने शिष्य विट्ठलदास को इस प्रकार लिखा था—

"श्री सकल गुण संपन्न रसरीति बढ़ावन चिरंजीव मेरे प्राणन के प्राण बीठलदास जोग्य लिखित श्री वृन्दावन-रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन वंचनौ। जोरी सुमिरन मत रहौ। जोरी जो है सुख बरषत है। तुम कुशलस्वरूप हो। तिहारे हस्ताक्षर बारम्वार आवत हैं। सुख अमृत स्वरूप है। पत्री बांचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि कौं इतनी शक्ति नहीं जो काई सकौं पर तौहि जानत हौं। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद देंय। हम यही आशीर्वाद देते हैं कि तिहारौ आयुष बढ़ौ। और तिहारी सकल सम्पत्ति बढ़ौ। तिहारे मन को मनोरथ पूरण होहु हम नेत्रनि सुख देखैं। हमारी भेंट यही है। यहां की काहूं बात की चिन्ता मत करौ। तेरी पहिचान तैं मोकूं श्री श्यामजू बहुत सुख देत हैं। तुम लिखी हौ दिन दश में आवेंगे सोई आशा प्राण रहे हैं। श्री श्यामाजू बेगि लै आवैं। चिरंजीव कृष्णदास कौ जोरी प्रसन्न हैं। श्याम वंदिनी विहार चंदन लेनौ। गोविंददास संतदास की दण्डौत, गांगू मैदा को कृष्ण सुमिरन बांचनौ।"

ब्रजभाषा में पत्र साहित्य लिखा तो बहुत गया होगा, लेकिन इस समय वह उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध हैं उसमें सर्वाधिक वे पत्र हैं, जो धर्माचार्यों द्वारा अपने शिष्यों अथवा शिष्यों द्वारा अपने गुरुओं को लिखे गए हैं। मुगलकाल के कुछ राजकीय पत्र और फरमान भी जहां-तहां उपलब्ध हैं। इन सबका कालक्रम के अनुसार संग्रह और प्रकाशन वांछनीय है। इससे ब्रजभाषा गद्य के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

ब्रजभाषा ने हिन्दी गद्य को आधार प्रदान किया। उसके महान साहित्य ने हिन्दी की श्रीवृद्धि की। केवल हिन्दी को ही क्यों, उसने समस्त भारतीय भाषाओं को अपनी भूमि, अपने भूमि-पुत्रों, अपनी स्वर-लहरियों, तथा कलम और कूचियों से भारतीय कला को स्थायी आयाम प्रदान किए हैं। इसीलिए रत्नाकर जी के समय में मथुरा में एक समस्यापूर्ति हुई थी—'मिठलौनी कहां ?' उस पूर्ति का एक पद इस प्रकार है—

जन केते कहे हैं आरसी फारसी
शुद्ध लिपी लिखो, होनी कहां ?
अरबी पढ़े डोलें बने गरबी
गुजराती में ये सुठिलौनी कहां ?
बंगला समता करि हारि थकी,
समता सम ताके सुहौनी कहां ?
अंगरेजी में तेजी, खड़ी खड़कै,
ब्रजभाषा सी है मिठलौनी कहां ?

छापेखाने तो अब लगे हैं, पहले तो विद्या कण्ठ की हुआ करती थी। कण्ठाग्र वह वस्तु हुआ करती है जो हृदय को मोह ले। इसके लिए भाषा का मनोहारी, मधुर और संगीतात्मक होना आवश्यक है। ब्रजभाषा में ये सभी गुण विद्यमान हैं। तब वह सहृदयों का कण्ठहार क्यों न बनती ? हमने स्वयं अपनी किशोरावस्था में ही ब्रजभाषा के तीन हजार से ऊपर पद, कवित्त, सवैये, बरवै और सोरठे कंठस्थ कर लिए थे। दिल्ली में रहने पर भी हमें ब्रजभाषा एक पल को भी नहीं बिसरती। हमें जब अपनापन व्यक्त करना होता है तो हम उसे आज भी ब्रजभाषा में ही लिखते हैं। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में हमारा एक छन्द है—

ये अनुराग के रंग रंगी,
रसखान खरी, रसखान की भाषा।
या में घुरी मिसुरी मधुरी,
यह गोपिन के अधरान की भाषा।
को सरि याकी करै कवि 'व्यास',
ये भाव भरे अखरान की भाषा।
बोरति भक्ति निचौरति ग्यानहिं,
गोविन्द के गुनगान की भाषा।

ब्रज का भक्ति-आन्दोलन

तब दिल्ली में राज करते थे शाहों के शाह, शहनशाहे आलम। कोई आंख उठाकर उनको देख नहीं सकता था। कोई जबान खोल नहीं सकता था। कानों से केवल उनके निगाहे-करम के नगमे सुने जा सकते थे। वह बड़े गरीब परवर हैं। कोई जागीरदार, ठिकानेदार, सूबेदार, मनसबदार या राजा-महाराजा उनके जलाल को चुनौती देने की जुर्रत नहीं कर सकता था। दुनिया की हर खूबसूरत औरत उनके हरम के लिए पैदा हुई थी। हर बेशकीमती चीज पर बिना चाहे उनका हक था। बात वही, जो वह कहते हैं। कानून वही, जो वह चाहते थे। भाषा वही जो वह बोलते थे। निजाम वही सिर झुकाकर मंजूर करने लायक था, जिसे आलम पनाह चलाते थे। राजा में ईश्वरांश है—इसे तो भारतीय पहले ही से मानते आए थे, अब तो उन्होंने विधिवत यह घोषणा भी कर दी कि 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।'

भारत पर विदेशियों का आक्रमण तब कोई नयी बात नहीं थी। बाबरवंशियों से पहले भी विदेशी शासकों ने ही नहीं, लुटेरों ने भी इस सोने की चिड़िया के पंख नोंचे थे। शक और हूणों की कहानी भी पुरानी नहीं पड़ी थी। लेकिन पहले भारत की पाचनशक्ति भी अच्छी थी और प्रतिरोध करने वाले जबरदस्त लौह-पुरुष भी देश में विद्यमान थे। इसलिए बहुत से यहां खप गए और बहुत-से लूट-पाट करके यहां से खिसक गए। पर मुगलवंशी लोग न यहां लूटने आए थे और न खुद को बदलने आए थे। वे यहां हुकूमत चलाने आए थे और हिन्दुस्तान को स्व-

धर्म, स्वभाषा और स्वसंस्कृति का पाठ पढ़ाने आए थे—स्वेच्छा से सम्भव न हो तो तलवार के बल से भी।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। हजारों वर्षों से भारत के मानस का गठन कुछ इस प्रकार हुआ था कि चाहे साधारण राजा हो या चक्रवर्ती सम्राट, चाहे कहीं का सूबेदार हो अथवा दिल्ली का शहनशाह, आम जनता को उससे कोई मतलब नहीं था। छोटे से छोटे गांव भी आत्मनिर्भर थे। बड़े-बड़े पुरों और पुरियों के शासक भी अपने में मस्त रहते थे। खतरा हुआ तो मूंछें नीचे कर लीं। संकट टल गया तो मूंछें तान लीं। उनके पास धन-दौलत की कमी भी नहीं थी। जो लेना हो, ले जाओ और पिण्ड छोड़ो। लेकिन मुगल सल्तनत आसानी से पिण्ड छोड़ने वाली नहीं थी। जनेऊ छोड़ो, चोटी कटवाओ, मुसलमान बनो, रोटी-बेटी करो। इस्लामी तहजीब और इस्लाम में वर्णित खुदा ही सर्वोपरि है। दिल्ली के शहनशाहों के पास अपनी बात को मनवाने के लिए पूरी ताकत थी। काबिलियत भी थी। प्रलोभन तो थे ही। धीरे-धीरे भारतीय समाज का ढांचा चरमराने लगा। सोमनाथ की मूर्ति तोड़ी गई। मन्दिरों को भूमिसात् करके उसी मलबे से उनके स्थानों पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। भारतीयों के धर्मस्थान और धर्मग्रंथ नष्ट-भ्रष्ट किए गए। कोई सुनने वाला नहीं था, कोई बचाने वाला नहीं था। वर्णाश्रम धर्म की गहरी जड़ें हिल उठीं। उससे लाचार होकर दीन-हीन और बेसहारा लोग धर्म बदलने लगे।

क्षत्रियों का सामूहिक शौर्य समाप्त हो गया। वैश्यों ने व्यापार के लिए राज की अधीनता स्वीकार कर ली और ब्राह्मण शहनशाहों के दरबार में उनका प्रशस्ति पाठ करने लगे, कहीं कला के नाम पर तो कहीं कौशल के नाम पर राजाओं के दरबारों को छोड़-छोड़कर मुगल दरबारों में बाअदब, बाकायदा ताजीम देने लगे। लेकिन मन से नहीं, लाचारी से। कुछ ने पेट को पालने के लिए तो कुछ ने आराम की जिन्दगी काटने के लिए। एक बार तो ऐसा लगा कि भारतीय संस्कृति अन्धकार के गहरे गर्त में डूब गई है। इससे उबरने का आसार ही नहीं दिखाई देता था।

कि तभी निराशा के घनघोर काले बादलों में से एक शुभ्र किरण का उदय होता दिखाई दिया। इस अन्धकार से लड़ने के लिए भारतीय प्रज्ञा ने जैसे करवट ली हो। एक साथ चारों दिशाओं से विचक्षण प्रतिभाओं से युक्त कुछ आध्यात्मिक आचार्यों का उदय हुआ। राम और कृष्ण को आधार बनाकर कुछ महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों का जन्म हुआ। देखते-ही-देखते रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क और चैतन्य जैसे आचार्यों की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक लहर समूचे भारत में व्याप्त हो गई। निराश और किंकर्तव्यविमूढ़ भारतीय जनमानस को जैसे कोई सबल आधार प्राप्त हो गया। लोग सोचने लगे कि होगा कोई दिल्ली का शहनशाह,

हमारे हृदय में तो इन सम्राटों का भी सम्राट्; तीन लोक चौदह भुवनों का ही नहीं कोटि-कोटि ब्रह्मांडों का भी नियन्ता विराजमान है। हम सब ही नहीं, 'मैं तैं तोर मोर यह माया' भी उसी का एक खेल है। 'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परै कि सोई।'

इस आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ने ढहते हुए भारतीय मानस-मन्दिर के स्वर्णकलशों को ऊपर ही थाम लिया। यह आन्दोलन गहरे से गहरा पठ कर भारतीय निष्ठा और विश्वासों को दृढ़ से दृढ़तर बनाता गया। विस्तार में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतीयता के ऊपर होने वाले चतुर्दिक हमलों को हम सह ही नहीं गए, इन आचार्यों से आध्यात्मिक आधार पाकर हम मजबूती से खड़े भी हो गए।

ब्रज का ही उदाहरण लें। दिल्ली और आगरे के बीच में बसे हुए ब्रज ने इस विनाशकारी आक्रमण से जो जमकर टक्कर ली है, उसकी मिसाल दुनिया में ढूंढने से भी नहीं मिलेगी। मथुरा विधर्मियों द्वारा इक्कीस बार लूटी गई। वृन्दावन को बार-बार बरबाद किया गया। गोवर्धन के हरदेव जी और जतीपुरा के श्रीनाथ जी, कहीं से मदनमोहन जी, कहीं से गोविन्द देव जी और कहीं से मथुरेश जी की मूर्तियों को भक्त लोग सुरक्षा की दृष्टि से ब्रज से बाहर तो ले गए, लेकिन ब्रजवासियों की लोकशक्ति और शास्त्रभक्ति ने कभी भी पराजय स्वीकार नहीं की। उल्टे मियां तानसेन, रसखान और कवयित्री ताज जैसे अनेक उदाहरण हैं जिनका ब्रज की रज ने काया पलट कर दिया। मैं यहां सिर्फ बल्लभ सम्प्रदाय की बात करूंगा।

आइए, दूर न जाकर मथुरा के राजाधिराज (द्वारिकाधीश) के दर्शन करें। उनके नख-चन्द्रों पर हीरे जड़े हैं। चरणों में स्वर्णनूपुर हैं। उन्होंने आज सूथन (पायजामा) धारण किया है। कटि में रत्नजटित मेखला है। वह अंगरखा जैसा बागा पहने हुए है। वक्षस्थल पर मुक्ताओं की माला है। हीरा, पन्ना, नीलम, पुखराज ऐसा कौन-सा रत्न है जो द्वारिकाधीश ने आज धारण नहीं किया। उनकी चिबुक का हीरा फर्लांगों दूर से झमझमा रहा है। नाक की नकवेसर, कानों के कुण्डल, मस्तक का तिलक और प्रभु के सिर पर यह क्या—कुलह! तुर्रा, सिरपेच! क्या विश्व के किसी शहनशाह के पास हमारे राजाधिराज जितना वैभव है? उनके हस्तकमल में धारण की हुई रजतगदा क्या कह रही है? यह शंख क्या आह्वान दे रहा है? द्वारिकाधीश तो सुदर्शन चक्रधारी हैं। वह सुदर्शन, जिसकी काट नहीं। लेकिन इसके बावजूद उनके पास लीला कमल भी है। ऐसी शोभा, ऐसा सौन्दर्य, ऐसा बल और ऐसा विक्रम क्या दिल्लीश्वर के पास है? हरगिज नहीं! जो छप्पन भोग पुष्टिमार्ग के प्रभु आरोगते हैं, वह क्या किसी शहनशाह को नसीब हैं? वे बेचारे उनका स्वाद तो क्या, नाम भी न जानते होंगे।

आगरा और दिल्ली के बादशाहों के पास विलास के अपार साधन थे, लेकिन पुष्टि मार्ग के विग्रहों की तुलना में वे नगण्य ही साबित होते हैं। उनके पास सोने, चांदी, चंदन, हाथी दांत आदि के विविध प्रकार की चित्रकारियों से चित्रित पालने-हिंडोले हैं। गर्मी शुरू होते ही ठाकुरजी फूल बंगलों में बिराजते हैं। इन फूल बंगलों में निकुंज भी हैं, फूलों की बारहदरी भी। अटा-अटारी भी हैं और पुष्प-सज्जित चित्रकारी भी। ऐसे फूल महलों की कल्पना किसी शहनशाहे आजम ने शायद ही कभी की होगी। ज्येष्ठ के महीने में मन्दिर के आंगन में यमुना जी लहरें लेने लगती हैं। क्वार के महीने में विविध रंगों की चित्रकारी से सज्जित सांझियां बनती हैं। ये सांझियां जिनमें ताल, सरोवर, वन-उपवन, मोर-पपीहा, यमुना-गोवर्धन सहित भगवान् कृष्ण की लीलाओं को सांचों द्वारा सूखे रंगों से ऐसे रंगायित किया जाता है कि देखते ही बनता है। ये रंग बादशाहों को कहां नसीब थे। धनुर्मास में ठाकुर जी की प्रातःकाल चार बजे से पहले ही मंगला हो जाती है और सूर्य के चढ़ते-चढ़ते वे पौढ़ भी जाते हैं। हर समय उनके सामने चांदी का पनडब्बा ताम्बूलों से भरा रहता है। हर समय उनके पास मेवा-मिष्ठान्न की एक पिटारी और जल की झारी धरी रहती है। कभी ठाकुर जी पंचामृत से स्नान करते हैं तो कभी ऋतुओं के अनुसार चन्दन और इत्रों से। जाड़ों के मौसम में उनके सामने चांदियों की अंगीठी में हल्की-हल्की लौ वाले अंगारे सुलगते रहते हैं ताकि उनका भव्य भवन शीत के प्रकोप से बचा रहे। गर्मियों में अहर्निश उनके ऊपर बड़े-बड़े पंखे डुला करते हैं। दिल्ली के शहनशाहों का जीवन तो सदैव कुचक्रों, चिंताओं, युद्धों और सिंहासन से उतरने और बैठने में ही बीतता था। लेकिन हमारे द्वारकाधीश निश्चिन्त हैं, अविचल हैं। उनका कृपा-कटाक्ष भक्तों के लिए आठों याम सुलभ है।

भोग की ही नहीं, राग के भी प्रचुर साधन प्रभु की सेवा में नियोजित हैं। भैरवी से लेकर ईमन तक की विविध राग-रागिनियों में मधुर स्वरों और विविध वाद्यों के साथ कीर्तनिए आह्लादमयी भक्ति के रस में डूबे प्रभु की लीलाओं के पद गाते रहते हैं। तब कौन देखे दिल्लीपति की ओर ? कौन गुजरे उनकी तहजीब और तमद्दुन के गली-कूचों में ? यहां तो उत्सव ही उत्सव हैं। कभी रथयात्रा है तो कभी जलयात्रा। कभी दान लीला है तो कभी मान लीला। कभी रास है तो कभी कोई और मनोरथ। होली, दीवाली, दशहरा और रक्षाबंधन का तो कहना ही क्या ? सौन्दर्य में ठाकुर जी 'साक्षात मन्मथ मन्मथः' हैं। ये वही हैं जिन्होंने नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकश्यप का वध किया था। ये वही हैं जिन्होंने रावण के दशों मुखों के अहंकार का वेधन करके भक्त विभीषण को सोने की लंका प्रदान की थी। ये वही हैं जिन्होंने गोवर्धन धारण करके डूबते हुए ब्रज को बचाया था। ये वही हैं जिन्होंने क्रूर कंस को इसी मथुरा नगरी में सिंहासन से

नीचे पटककर ब्रज के बाजारों में करेढ़ते-करेढ़ते विश्राम घाट पर विश्राम लिया था। ये वही हैं जिन्होंने द्रौपदी की लाज बचायी थी। ये वही हैं जिन्होंने राज मद में चूर अन्यायी कौरवों का वध कराके धर्मराज युधिष्ठिर को भारत के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था। ऐसे शक्ति, शील और सौन्दर्य के धनी की शरण में जाने पर किसका डर?

केवल द्वारकाधीश की ही बात नहीं—मथुरा का यह मन्दिर तो अपेक्षाकृत नवीन है—लेकिन पुष्टिमार्ग के सातों स्वरूपों की विधियों का यही आलम है जिसका वर्णन अभी हमने द्वारिकाधीश जी के माध्यम से किया है। भला ऐसे जगदाधार, विश्वनियन्ता और लीलामय प्रभु के दर्शन करके, गुण श्रवण करके, उनके पादोदक का आचमन करके और प्रसादी रूप में एक तुलसीदल प्राप्त करके ही ब्रजवासी निर्भय क्यों न हो जाते?

भक्ति सम्प्रदाय के इन आचार्यों की अन्तःप्रेरणा पर समूचे ब्रज में निर्भयता का एक अनोखा आन्दोलन चल पड़ा। ब्रजवासी स्वभाव से ही मस्त, मन से मौजी और तन से बलिष्ठ हुआ करते हैं। गांव-गांव में उन्होंने बलराम-कृष्ण की लकुटियों की तरह लाठियां सम्भाल लीं। औरतों ने मुंह पर घूंघट तो अवश्य डाला लेकिन किसी विधर्मी को हाथ नहीं धरने दिया। किसी ब्रज युवती के अपहरण की बात उस युग में हमें सुनाई नहीं पड़ती। होली के दिनों में ब्रज नारियां भी लाठियां चलातीं, मर्दों पर कोड़े फटकारतीं। शस्त्र-सज्जित युवकों को ढाल-तलवारों से लैस होने पर भी अपनी लाठियों से धराशायी कर देतीं। फागुन के महीने में ब्रज नारियों के ऐसे पराक्रम अब भी जहां-तहां दिखायी पड़ जाते हैं। मन में कन्हैया की भक्ति, तन में कृष्ण-बलराम की शक्ति और धन के प्रति अनासक्ति ही ब्रज के जीवन का केन्द्र बिन्दु है। ब्रज का लोकमानस रसिया भी है और गहरी आध्यात्मिकता में लीन प्रभु के चरणारविन्द में मनबसिया भी है। वह विविध पदार्थों का पुष्कल भक्षक ही नहीं, धर्म, साहित्य और संस्कृति का रक्षक भी रहा है। तभी तो वह आगरा और दिल्ली के बीच में बसकर भी इनके कुचक्रों में नहीं फंसा। उसने गरीबी स्वीकार की, लेकिन धन के लिए धर्म का परित्याग नहीं किया। उसने ललकार कर हमेशा यही कहा कि 'सन्तन कहा सीकरी सों काम?' उसने झूम-झूमकर सदा यही गाया—'सुने री मैंने निर्बल के बल राम।' उसने आल्हा से प्रेरणा ली। और निहाल दे को गाया ही नहीं, निभाया भी, और नौटंकी में सदैव इसी चौबोले के बोल को आत्मसात् किया—'रूठ जाए संसार एक भगवती न रूठी चहिए।' उसके ख्यालबाजों ने चंग पर हमेशा यही धुन छेड़ी—'किड़किड़ात, क्रुद्धत, अतिघुर्रत, रावण के मन्दिरे चले। नील चले, नल चले, दुविध भी चले वीर बन्दरे चले।'

ऐसे चलते-चलते ब्रज के लोग अपनी आस्थाओं पर अविचल रहे। पुष्टिमार्ग

का इसमें बहुत बड़ा योगदान है। उसने अपने ठाकुर जी को पर्दनी, चाक, सूथन, अंगरखा और पठानी कुलह (कुल्ला-पगड़ी) पहनाकर प्रभु में शहनशाही की छवि तो दरसायी, लेकिन तत्कालीन शहनशाह के विरुद्ध उसने ब्रज के लोक जीवन को ही नहीं, भारत के जन-जीवन को भी तरंगित करके आध्यात्मिक संघर्ष के लिए सन्नद्ध कर दिया। जातियां कभी जिस्मानी आक्रमणों से नष्ट नहीं हुआ करतीं। उनका सर्वनाश आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पराजय से ही सम्भव होता है। ब्रज ने तब ऐसी स्थिति से बचने के लिए जमकर लोहा लिया था। आज भी भारत की मनीषा ब्रज से ही यह सार्थक अपेक्षा रखती है कि वह अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी-यत के विरुद्ध भी सीना तानकर खड़ा हो जाए। निश्चय ही ब्रज में ऐसी शक्ति है। है कोई उसे जगाने वाला ?

●

सूरदास : अथध्यानम्

अथ ध्यानम् ।

आओ महाकवि का ध्यान करें। अरुणाभा से दीप्त उनकी गुदकारी एड़ियां, चरणतल में चक्राकृत रेखाएं, सुपुष्ट पिंडलियां, कटि में पंचकक्षधोती, किंचित अग्रगामी उदर, सुपुष्ट वक्षस्थल, प्रलम्ब भुजाएं, कलाकारों जैसी सुगठ अंगुलियां और कंठ में छोटे-छोटे तुलसी के दानों की माला।

हमारा यह ध्यान कोरी कवि-कल्पना पर आधारित नहीं है। आज से लगभग चार दशाब्दी पूर्व एक प्राचीन हस्तलिखित पोथी में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को सूरदास का एक रंगीन मनोरम चित्र प्राप्त हुआ था। तब मैं व्रज-साहित्य-मंडल का प्रधान मंत्री था। पुस्तक की प्रामाणिकता और प्राचीनता पर शोध की गई। निश्चय हुआ कि सूरदास जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को सम्पूर्ण रूप से व्यक्त करने वाले इस चित्र को मान्यता दी जाय तथा उसे लोकप्रिय बनाने के लिए प्रकाशित और प्रचारित किया जाय। लखनऊ से एक चित्रकार बुलाया गया और उक्त चित्र के आधार पर सुंदर रंगों की संयोजना करके एक बड़ा चित्र बनवाया गया। यह चित्र आजकल मथुरा म्यूजियम की शोभा बढ़ा रहा है और समस्त देश में अब सूरदास के इसी चित्र को प्रायः मान्यता प्राप्त है। हमारा ध्यान मुख्यतः इसी चित्र के नख-शिख-वंदन पर केन्द्रित है। हां तो, शास्त्रीय संगीतज्ञों जैसी किंचित लंबी और भरी हुई गर्दन, उन्नत चिबुक, अरुनारे अधर, लंबे-भरे हुए चेहरे पर लंबी-नुकीली नासिका, धनुषाकार भौंहें, उन्नत ललाट, उस पर रोली-रंजितपुष्टिमार्गीय तिलक और सिर पर वल्लभसम्प्रदायी केसरिया टोपा। कवि की सम्पूर्ण देहयष्टि

को देखकर ऐसा लगता है कि महाकवि अपनी युवावस्था में सचमुच अत्यन्त सुन्दर रहे होंगे। उनके लंबे-लंबे कान इस बात की साक्षी देते हैं कि कला और शास्त्र में उन्हें सहज ही निपुणता प्राप्त रही होगी। यदि इस दिव्याभा-संयुत मुखमंडल पर शरीर के अनुपात से अनियारे, दीरघ और घने नेत्र भी चित्रित होते तो आज के कला-समीक्षकों और मनोविज्ञान-वेत्ताओं की शोध संबंधी मंलिज बहुत-कुछ आसान हो गई होती। उनकी आंखों ने स्वयं ही कवि के जीवन के संबंध में वह सब कुछ कह दिया होता, जिसको जानने के लिए आज देश-विदेश के विद्वान बुरी तरह भटक रहे हैं—'नैना भये अनाथ हमारे' के गायक के सम्बन्ध में तब आज के नेत्रधारी भी यों अनाथ न हो गए होते।

सूरदास के साहित्य सागर तक पहुंचने से पहले आइए हम इस नयन-विहीन कहे जाने वाले कवि के यात्रा-पथ की ओर दृष्टिपात कर लें। व्यक्ति को जाने बिना कौन उसकी कृति के मर्म को जान पाया है। कलाकार जिन-जिन राहों से गुजरता है, वे अनजाने ही उसके मानस पटल पर 'चेतना की कुछ ऐसी रेखाएं छोड़ जाती है' जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। साधक का मन एक दिन में पुष्ट नहीं हुआ करता। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए उसे बड़ी मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। ये मंजिलें मणियों की तरह सुधि के तार में अनुस्यूत होती हैं। माला के सुमेरु तक पहुंचने के लिए जिस प्रकार मनकों का फेरना आवश्यक है, उसी प्रकार महाकवि और महात्माओं के मनोरथों और लक्ष्यों को पहचानने के लिए उनके साधन-पथों और सिद्धि के आयामों को जानना जरूरी है। तो चलिए, हम भी सूरदास के साथ-साथ अपनी यात्रा शुरू करें।

सूरदास जी का जन्म दिल्ली से बहुत दूर नहीं हुआ था। बिना वाहन के दो-ढाई घंटे में वल्लभगढ़ के निकट बसे सीही ग्राम में आसानी से पहुंचा जा सकता है। लेकिन सूरदास जी वय प्राप्त होते ही दिल्ली को पीठ देकर ब्रज की ओर चल पड़े। रास्ते में मथुरा अवश्य पड़ा होगा परन्तु महात्मा सूदरास कंसपुरी होने के कारण ब्रज की इस राजधानी में भी नहीं रुके। रुके जाकर रुनुकता के गौघाट पर। ध्यान देने योग्य बात यह है कि नवरत्नों से जगर-मगर सम्राट अकबर की राजधानी (आगरा) भी वहां से कोई बहुत दूर नहीं थी। सीही जितनी दूर दिल्ली से है, आगरा भी लगभग उतनी ही दूर रुनुकता से है। लेकिन सूरदास ने दिल्ली की ओर ही नहीं, आगरा की ओर भी रुख नहीं किया। जाते तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी साहित्य और संगीत की महान् साधना के बल पर वह अष्टछाप की भांति ही नवरत्नों के भी सुमेरु बन सकते थे। परन्तु महात्मा और महाकवि सूरदास का अभीष्ट कुछ और ही था।

इसी पड़ाव पर मायावाद का सशक्त खंडन करने वाले और भक्तिरस की पोषण वृत्ति अर्थात् पुष्टि की सम्पुष्टि करने वाले वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई।

हरिराय जी ने अपनी वार्ता में सूरदास को स्वामी लिखा है और बताया है कि वह भी अन्य आचार्यों की तरह अपने 'चेला सेवक करते हते' परन्तु इस भेंट के बाद सूरदास जी ने स्वामित्व का बाना उतार दिया। वह स्वामी थे और भक्ति-पथ में दास्य-भाव को अपनाये हुए थे। परन्तु अब स्वामी सखा बन गए। सखा श्रीकृष्ण के ही नहीं, वल्लभाचार्य के भी। सूर ने पुष्टिमार्ग को अपनाया अवश्य, लेकिन दास की तरह नहीं। स्वयं वल्लभाचार्य और बाद में उनके पुत्र-पौत्रादिकों ने भी सूरदास को सम्प्रदाय के शिष्य के रूप में नहीं, भक्ति-रस के जहाज के रूप में स्वीकार किया है। सूरदास सम्प्रदाय में रहकर भी उससे अलग थे। वल्लभ के बोध को स्वीकार करने पर भी उनकी रस-व्याख्या साम्प्रदायिक लीक से हटकर भी हुई है। बात यह है कि सूरदास अपना रास्ता स्वयं तय कर रहे थे। इस रास्ते में जहां भी साहाय्य या अनुग्रह मिला, उसे स्वीकार करके वह आगे बढ़ चले।

दूसरी मंजिल में उनके कदम ब्रज की अंतरंग यात्रा पर मुड़ गए। उन्होंने कृष्ण-लीलाओं के अंतरंग में प्रवेश करने से पूर्व ब्रज के अंतस् में पैठने का निश्चय किया। इस यात्रा में पुनः मथुरापुरी आई होगी किन्तु वह वहां नहीं रुके। गोवर्धन का कस्बा भी बीच में पड़ा होगा, वह वहां भी नहीं ठहरे। जतीपुरा में वल्लभाचार्य जी ने गोवर्धन पर्वत के ऊपर श्रीनाथजी का नया मंदिर बनवाया। वहां भी भोग-राग, शृंगार और वैभव दिन-दिन बढ़ने लगे। सूरदास जी ने उस स्थान को भी अपने रहने के लिए उपयुक्त नहीं समझा। वह जाकर बसे भीड़-भाड़ से परे वहां से ढाई-तीन मील दूर एकांत परासौली नामक ग्राम में सुरम्य चंद्रसरोवर के तट पर। क्यों? इसलिए कि वल्लभाचार्य जी ने अपने ब्रज की खोज में इसी स्थान को राधा-कृष्ण की परम रासस्थली आदि वृन्दावन माना था। वर्तमान वृन्दावन तो चैतन्य महाप्रभु और राधावल्लभ आदि सम्प्रदायों के उदय होने पर विकसित हुआ है। कभी यमुना परासौली से होती हुई मथुरा की ओर जाती थी। निकट का जमुनामतौ गांव और इन गांवों में गहरी खुदाई पर मिलने वाली यमुना की रेत वहां अभी भी जहां-तहां मिल जाती है। परासौली को विद्वान् परम रासस्थली का अपभ्रंश बताते हैं। यहां का चंद्रसरोवर उसी स्थान पर बना हुआ है, जहां श्रीकृष्ण ने महारास किया था। जैसे कुरुक्षेत्र में महाभारत के स्थान पर कालांतर में अनेक जलाशयों के निर्माण हुए, वैसे ही ब्रज में गोवर्धन की तलहटी में श्रीकृष्ण के लीला स्थलों पर अनेक कुंडों और सरोवरों का निर्माण हुआ है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि नंद-भवन की लीलाओं के गायक गोकुल में नहीं वृन्दावन में बसे। क्यों? इसलिए कि गोपाल भी गोकुल में अधिक दिन कहां बस पाए थे। कृष्ण-लीला का रस-रहस्य और निकुंज-प्रवेश तो वृन्दावन के कण-कण में ही व्याप्त है। बिना इसे जाने साधक को सिद्धि कहां और कवि को रस की सम्प्राप्ति कैसे?

सभी महापुरुषों के जीवन-वृत्त के लिए ताड़ और भोज-पत्र सुलभ नहीं होते। पत्थर तो पत्थर ही है। उनकी शिलाओं और स्तम्भों को राजपुरुषों से ही अवकाश कहां? फिर जो अपने में ही खोया हुआ है और अपने लक्ष्य के लिए ही समर्पित है उस एकान्त साधक के लिए कुछ शब्द व्यय करने की चिन्ता किस इतिहासकार को है? सूरदास तो इन सब में भी विरल थे। उन्होंने तो मसि-कागद छुआ ही नहीं। न लिखने के लिए कलम उठाई और न गायन के लिए तानपूरा ही हाथ में लिया। प्रभु के लिए गाया। प्रभु को ही सुनाया। जिसे भाया उसने उसे दूसरे को कह गुनगुनाया। अब बिठाते रहो संगति। मिलाते रहो कुलाबे। इससे न कवि को तब कुछ लेना था और न अब कुछ लेना है। सूरदास जी के सम्बन्ध में भी लगभग यही हाल है। पण्डितों ने मिलकर और अलग-अलग एक बहुत बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया है कि उनके पद सवा लाख नहीं थे, कुछ हजार ही हैं। कि सूर-सारावली और साहित्य-लहरी उनकी रची हुई ही नहीं हैं। कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे। कि सूरदास और बिल्वमंगल, सूरदास और सूरदास मदनमोहन, सूरदास और सूरज···कोई कहता है कि अलग-अलग हैं, कोई कहता है कि नहीं, ये और वे एक हैंऔर वे और ये एक नहीं। उनके सम्बन्ध में लिखी गई वार्ताओं को भी, कुछ लोग हैं, जो प्रामाणिक नहीं मानते। अब एक नई लहर चली है कि सूरदास पर दक्षिण के उस कवि का प्रभाव है तो पश्चिम के उस कवि का। कुछ कहते हैं कि सूरदास को तो वल्लभसम्प्रदाय वालों ने जबरदस्ती अपने में शामिल कर लिया है, उन्होंने तो सूरसागर में वल्लभाचार्य का नाम तक उल्लेख नहीं किया। कीर्तन के स्फुट पदों में वल्लभाचार्य और गोस्वामी बिट्ठलनाथ पर जो सूर के पद मिलते हैं, वे जाली हैं। हम जानते हुए भी इस पचड़े में नहीं पड़े। सूरदास को जानने के लिए हमारे पास सूरदास की टकसाली भाषा, उनका काव्य-शिल्प, अभिव्यक्ति की उनकी विशिष्ट शैली और स्वीकृत लक्ष्य के प्रति महाकवि की तन्मयता ही पर्याप्त है, जो अन्य सूर नामधारी कवियों से ही नहीं, हिन्दी के सभी पद-गायकों से अलग खड़ी हुई है। जो वार्ता-वृत्तान्त मिलते हैं और इतिहास जिस तरह से रंग देकर लिखे जाते हैं, उनसे कौन परिचित नहीं? सम्प्रदाय वाले किसी का जीवन चरित्र अपनी दृष्टि से लिखते हैं और इतिहासकार अपने चश्मे से उसे देखते हैं। आवश्यकता है संत-रूपी हंसों की जो पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करे। पर यहां हम वह भी नहीं करेंगे। इतिहास लिखा जाने पर ही जीवित नहीं रहता, भावनाएं लिपि या स्वरबद्ध करने पर ही सुरक्षित नहीं होतीं; कभी-कभी कुछ मामलों में जन-जीवन, लोक-भावना, तब से लेकर अब तक समाज में व्याप्त उसका वातावरण और परिवेश भी अलिखित तथ्यों को अपनी सुधियों और सपनों में संजोए रहता है। ऐसे ही एक सुनहले स्वप्न की बात हम आपको सुना रहे हैं।

यह चन्द्रसरोवर का सुरम्य तट है। इसके बगल में महाप्रभुजी (वल्लभाचार्य जी) की बैठक है। उसी में बनी हुई है एक छोटी-सी कोठरी—सूरकुटी। इतनी बड़ी कि उसमें केवल एक आदमी सो भर सके। उसके आगे लगभग उतनी ही परिधि में एक छोटी-सी तिवारी जहां आठ-दस व्यक्ति आसानी से बैठ सकें। उसके बाद खुला हुआ आंगन, चारों ओर अकबरी ईंटों के कुछ दालान, बगल में नहाने के लिए एक छोटी-सी बावड़ी। उसी से सटी हुई महाप्रभुजी और उनके सातों स्वरूपों की छोटी-छोटी गद्दियां। स्वप्न में हम देखते हैं कि यह स्थान ब्रज के विरही लोगों, संतों, भक्ति-संगीत के गायकों और साहित्य-साधना में संलग्न सुधी रचनाकारों का तीर्थ स्थल बना हुआ है। सूरदास पदों की रचना करते हैं। उन्हें स्वर और ताल प्रदान करते हैं। गोष्ठियों में उनका गायन होता है। भक्त-जन उन्हें तत्काल लिखते हैं। साथ-साथ दुहराते है, गाते हैं, कण्ठ-कण्ठ से कान-कान तक, कानकान से हृदय-हृदय तक सूर के शब्द, उनकी भावना, उनकी ललित गीत-पद्धति एक गांव से दूसरे, दूसरे से तीसरे और फिर प्रदेश से प्रदेश में गूंजती हुई समस्त देश में व्याप्त हो जाती है। हमारी दादी और नानी दोनों अपढ़ थी किन्तु दोनों को ही सूरदास के अनेक पद याद थे। और सवेरे सवेरे वे उन्हें बड़े ही मधुर स्वरों में गाया करती थीं। दोनों ने १८५७ का गदर देखा था। उस समय तक प्रेस का विकास नहीं हो पाया था। वेंकटेश्वर प्रेस का सूरसागर भी बहुत दिनों बाद छपा। निश्चय ही इन दोनों महिलाओं ने सूर के ये पद अपनी दादी-नानियों से ही सुने होंगे। कहने का तात्पर्य यह कि सूरदास को समीक्षकों, साहित्य के इतिहास लेखकों, सम्प्रदाय के वार्ताकारों आदि ने जीवित नहीं रखा। वह अपने समय में लोकमानस के प्रिय हो गए थे और बाद में लोकमानस ने ही उनके साहित्य को जीवित रखा है। इसीलिए तो आज भी हमें सूरदास के स्वप्न आ रहे हैं।

सूरदास अकेले नहीं उठे। पूरी अष्टछाप के श्रेष्ठ सात कवियों को लेकर ही उन्होंने भक्ति-पथ का अनुसरण किया। सूर ने जो गाया, वह शेष ने दुहराया। किसी ने सूर के भाव को आगे बढ़ाया तो किसी ने उससे बचकर नए ढंग से कहने का सिद्धान्त अपनाया। बात एक ही थी। चाहे भ्रमर गीत सूरदास का हो या नंददास का, लीलागायन चाहे सूरदास का हो या परमानंददास का, प्रेमाभिव्यक्ति और श्रीमद्भागवत का अवलम्बन चाहे सूरदास ने किया या परमानंद-दास ने, कुम्भनदास ने या किसी एक दूसरे स्वामी ने। पकड़ वही थी जो सूर ने निश्चित की थी। राग वही थे जिनको सूरदास ने कीर्तन के लिए अपनाया था। इस प्रकार श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन के निमित्त जो पद साहित्य तैयार हुआ उसका प्रशिक्षण-केन्द्र हमारी स्वप्न-समझ के अनुसार परा-सौली का चन्द्रसरोवर तट ही है। हो न हो, महाप्रभुजी की इसी बैठक से हवेली

संगीत का जन्म हुआ। पंडितों से प्रार्थना है कि वे इस स्वप्न को साकार करें, अपने प्रमाणों के अनुसार। हम तो आपको अपने साथ इस समय परासौली से दो ढाई मील गोवर्धन पर्वत पर निर्मित श्रीनाथजी के मंदिर की ओर लिए चलते हैं।

देखिए, रास्ता सुगम नहीं। पग-पग पर कांटेदार झरबेरी की झाड़ियां फैली हुई हैं। कहीं पगडंडी दिखाई पड़ती है, कहीं नहीं। कहीं धूल है तो कहीं कीचड़। जगह-जगह गोवर्धन पर्वत के शिला-खण्ड बिखरे पड़े हैं। सावधान ठोकर न लगे। गोवर्धन पर्वत की चढ़ाई भी इस स्थान पर आसान नहीं। जूते पहनकर नहीं चल सकते। पर्वत अत्यन्त पवित्र है। इसे काटा और तराशा नहीं जा सकता। एक दूसरी शिला पर पैर रखते हुए अत्यंत संतुलन के साथ चलना पड़ता है। जी हां, इसी दुर्गम पथ पर सूरदास रोज सवेरे आते थे और संध्या होने पर लौटते थे। है न आश्चर्य की बात कि उन्हें माखन चोरी के समय कृष्ण के मुख पर दधि के छींटें, यशोदा माता के ऊखल से बांधने पर कन्हैया के कोमल करों में रस्सियों के निशान, सखाओं के साथ कृष्ण की सैना-बैनी, ललिता की मुस्कान, राधा के कज्जल-कलित नेत्रों के श्यामल अश्रु-बिन्दु और विरह-विदग्ध गोपियों के तप्त उच्छ्वासों से अंतर-पट की जलन ही अनुभव नहीं होती थी, परासौली से लेकर आन्यौर-जतीपुरा तक का मार्ग भी निरापद रूप से सूझ जाता था।

कहा तो यहां तक जाता है कि सूरदास जी श्रीनाथजी के मंदिर निर्माणकार्य के लिए राजकीय सहायता प्राप्त करने के हेतु समय-समय पर मथुरा की यात्रा भी किया करते थे। अवैष्णवों को वैष्णाव बनाने के लिए बार-बार पर्वत से उतर कर उन्हें दर्शन कराने भी ले जाया करते थे। वह कौनसी आंख थी जो इन्हें यह सब सुझाया करती थी।

विद्वान कुछ भी कहें, हम यह मानने को तैयार नहीं कि सूरदास ने जीवन में संयोग और वियोग-जनित प्रेम का कभी साक्षात् अनुभव नहीं किया था। हम यह भी मानने को तैयार नही कि उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन को निकट से अनुभव ही नहीं किया था। हम तो उस स्वीकृत सिद्धान्त को मानने वाले हैं कि परम भोगी ही परमयोगी हुआ करता है। सूर के आराध्य श्रीकृष्ण भी तो ऐसे ही थे। जीवन की गहन आसक्ति ही एक दिन परम विरक्ति में परिवर्तित होती है। सूरदास जीवन रस से छकाछक भरी गागर थे। वह अत्यंत सुसंस्कृत और नागर थे। लोक और शास्त्र दोनों उनके लिए हस्तामलक थे। इसीलिए वह मुक्तक से प्रबन्ध की ओर, दास से सख्य की ओर, वात्सल्य से श्रृंगार की ओर, संयोग से वियोग की ओर और लोक जीवन से श्रीकृष्ण की रस-रहस्यमयी लीलाओं की ओर सहज रूप से प्रवृत्त हुए थे।

कोई है जो सूर की इन बाह्य और अंतस् यात्राओं के अभीष्ट को शब्द दे सके?

कोई है जो सूर के ब्रजऔर ब्रज-संस्कृति को, उसकी महान् साहित्यिक गरिमा को, भारत की संस्कृति के साथ समन्वित करके विश्व के सामने इस रूप में प्रदर्शित कर सके कि सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सही अर्थों में जीवन मुक्ति का संदेश, लोकानुरंजन की भावना के साथ, यदि किसी कवि के पास है तो वह है हमारा सूरदास।

ब्रज साहित्य की मानसी परिक्रमा

आज के युग में जब भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी और उसके साहित्य का प्रभाव बुरी तरह छाया हुआ है, तब ब्रजभाषा और उसके साहित्य की चर्चा करना समीक्षकों की दृष्टि में अपना पिछड़ापन ही सिद्ध करना है। अपनी भूमि से कट कर भारतीय साहित्य रूसी और अमरीकी खेमों में बंटकर विदेशी जूठन और उधार पर ही जीवन यापन करने को तुल गया है तो हम देववाणी, देवनागरी और देवों को भी प्रिय ब्रजभाषा और ब्रज के सुललित काव्य का गुणगान किस मुख से करें? कैसे कहें कि ब्रज का साहित्य तो वह मानसी गंगा है जिसमें अवगाहन से मन पवित्र होता है, तन में स्फूर्ति आती है, और ध्यान मानव के जीवन-रस पर केन्द्रित हो जाता है। कैसे कहें कि ब्रज की कविता में भूमि की सोंधी सुगन्ध है, भारतीय जीवनधारा की मन को उत्फुल्ल करने वाली मादक स्वर लहरी है और है वह रस-माधुरी जो व्यक्ति, समाज और साहित्य के लिए अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, उपयोगी भी है। यह काव्य सम्प्रदायों के आचार्यों से जुड़ा सिद्धों और सन्तशिरोमणि साधुओं के श्रीमुख से निस्सृत हुआ और राजदरबारों की भी शोभा बना, लेकिन कभी भी आम आदमी से नहीं कटा। सदा यह मनुष्य की आशा-आकांक्षाओं और उसकी मनःस्थिति से जुड़ा रहा है। इसने अवतारों की दिव्य लीलाओं को ऐहिक आयाम दिए और काम-विलास को समाज के साथ ही नहीं परमाराध्य राधा-कृष्ण की लीलाओं के साथ जोड़कर उसे अध्यात्म के प्रति समर्पित कर दिया।

ब्रज के साहित्य ने अपने सम-सामयिक दायित्व को पूरी तरह निबाहा।

भक्ति युग में उसने तान पूरा उठा लिया। ज्ञान-विज्ञान के युग में वह आत्मा-परमात्मा की खोज में संलग्न होकर मन और इन्द्रियों के विषय-नियंत्रण के कठिन कार्य में प्रवृत्त हो गया। मुगलों के राजदरबारों में जाकर भी उसने अपनापन नहीं खोया। ध्यान से देखें, ब्रज की कविता ने तत्कालीन आश्रयदाताओं की कामुकता और विलासिता को ही व्यंग्य रूप में उभारकर अपनी सम-सामयिकता को प्रतिबिम्वित किया है। आधुनिक काल के नवजागरण में स्वतंत्रता संग्राम और स्वतंत्रता के बाद के विकास काल में भी ब्रज के उपेक्षित कवियों ने अपने दायित्व को भली प्रकार निबाहा है।

अब तो भारत के साथ समूचे संसार ने भी यह मान लिया है कि महाकवि सूरदास की टक्कर का कोई कवि किसी अन्य भाषा में उत्पन्न नहीं हुआ। उनका वात्सल्य, उनकी सुखद संयोगिनी रास-लीलाएं और उनके ब्रज के विरही लोग बिचारे जैसे साहित्य-साक्ष्य विश्व के विस्तृत साहित्य में विरल ही हैं। ब्रज के भक्ति-साहित्य का लोहा किसने नहीं माना? हरिदास और हित-हरिवंश के संगीतात्मक लीला-ललित पद्यों की सराहना किसने नही की? मीरा के गिरधर गोपाल को कौन भूल सकता है? कबीर ने कभी कलम कागज हाथ में नहीं लिया, लेकिन उनके उद्‌बोधन,उपदेश और अध्यात्म के निगूढ़ ज्ञान को क्या कोईचुनौती दे सकता है? विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने काव्य-सृजन में कबीर की भूमिका को मुक्त कण्ठ से सराहा है। कवीन्द्र रवीन्द्र बंगला के इतिहास-पुरुष होने पर भी भानु कवि के नाम से ब्रज भाषा में कविता करके अपने को धन्य अनुभव करते थे। गोसाई तुलसीदास को भी अपनी साहित्य-सामर्थ्य सिद्ध करने के लिए ब्रज-भाषा में उतरना पड़ा। उनकी अवधी में भी ब्रज का प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रज के विशिष्ट काव्य पर अवधी का कोई प्रभाव नहीं। प्रश्न उठता है कि क्या ब्रज साहित्य की इन रचनाओं का कोई मूल्य नहीं है? क्या ब्रज का साहित्य भव-सागर को पार करने में आज भी नौका नहीं है? क्या यह आज भी भक्तजनों के हृदयों में बस कर उन्हें त्रयतापों से विमुक्ति नहीं देता? क्या यह दलित-शोषित और अभावों से पीड़ित मानवता के लिए संजीवनी बूटी नहीं है? क्या ब्रज-भाषा राष्ट्र-भाषा हिन्दी की अमृतोपम जीवनधारा नहीं है? यदि है, तो इसकी उपेक्षा क्यों? क्या रीतिकाल की कुछ गिनी-चुनी विलासी कविताओं के कारण ही यह अवहेलना का शिकार होने योग्य है? क्या साहित्य में काव्यांग और रीति-रस के लिए कोई गुंजाइश नहीं? क्या ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है, जब लोग दाम्पत्य-रस और प्रेम-विव्हलता को त्याग कर सर्वथा विरक्त और निष्काम हो जाएंगे? नहीं, पृथ्वी पर प्रतिदिन स्वर्णिम उषा का आगमन होता ही रहेगा। कलियां चटकती और फूल खिलते ही रहेंगे। भौंरे उन पर मंडराना बन्द नहीं कर सकते। चांदनी भूतल पर उतरेगी ही। चन्दा आकाश में चमकेगा ही।

नारी का रूप आकर्षण का केन्द्र बना ही रहेगा। शिव काम-दहन करके भी पार्वती के परिणय के लिए प्रस्तुत होते रहेंगे। यह दुनिया प्रेम के लिए है, सृजन के लिए है। इसलिए मैं कहता हूं कि ब्रज जैसा साहित्य और रीतिकालीन जैसी रचनाएं फिर फिर लिखी जाएंगी। कलाकार उसकी तरफ से आंखें नहीं फेर सकता, क्योंकि यही जिजीविषा है, यही जीवन का सुखद संयोग भी है। फिर ब्रजभाषा काव्य की अनदेखी किसलिए? ब्रजभाषा से कटकर हिन्दी साहित्य तो कहीं का रहेगा ही नहीं, भारतीय साहित्य की भी ज्योतिशिखा धूमिल पड़ जाएगी।

ब्रज साहित्य को बिसरा कर हमने अच्छा नहीं किया। शास्त्र से भी कट गये और रसानुभूति से भी हट गये। शताब्दियों के परिश्रम और प्रयोगों से जो रस-सिद्ध काव्यकला विकसित हुई थी उसे छोड़कर चलने को आधुनिकता यानवी-नता कहा गया। नवीन हाथ लगा नहीं, लेकिन प्राचीन इतना पीछे छूट गया कि अब लौटने की गुंजाइश ही नहीं रही। विश्व की शायद ही कोई ऐसा भाषा रही हो जिसने अपनी महिमामय परम्परा को उपेक्षित और तिरस्कृत करके अपनी रचनाधर्मिता को प्रताड़ित किया हो। इसे साम्प्रदायिकों और सामन्तवादियों की देन कहा गया। इसकी भाषा, भाव व्यंजना आदि पर तरह-तरह के आरोप लगाये गए। फतवा दे दिया गया कि यह नवयुग की चेतना और भावधारा को वहन करने में सक्षम नहीं है। हम अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मारकर प्रगति की दौड़ में शामिल होने को लालयित हो उठे। लेकिन छायावाद और द्विवेदीयुग के कुछ कवियों को छोड़कर हिन्दी कविता अकविता ही बन गयी।

जीवन की तरह साहित्य भी प्रवहमान है। अपने बनाए विविध आयामों को स्वयं पार करता हुआ वह आगे ही बढ़ता जाता है। विकास में ही उसकी इयत्ता है। नित नूतन रहना ही उसकी सार्थकता है। नवीनता को अस्वीकार करना ही उसकी मृत्यु है। परन्तु क्षमा कीजिये, ब्रज भाषा नवीनता से मुख मोड़ने के तथा-कथित आरोप के कारण स्वाभाविक मौत नहीं मरी, जड़वादी, भौतिकता और पाश्चात्य साहित्य के रंग में रंगे तथा नवीनता का बाना पहने कुछ अटपटे महत्वा-कांक्षियों ने ही उसकी हत्या की है। मजे की बात यह है कि इनमें से अधिकांश ब्रज-साहित्य पर मुग्ध ही नहीं थे, उसमें उन्होंने प्रारंभिक रचनाएं भी की थीं।

इस ऐतिहासिक प्रपंच का केवल भाषा-गत या साहित्य-गत कारण ही नहीं, बहुत कुछ और भी था। इस समय उसका उल्लेख करना अभीष्ट नहीं है। हम तो ब्रजभाषा की साहित्य-माधुरी का संक्षेप में रसोपाख्यान प्रस्तुत करना चाहते हैं। लेकिन इस रस-सागर में निमग्न होने से पूर्व ब्रज-काव्य पर लगाए गये अनर्गल अरोपों का उत्तर अवश्य देना चाहते हैं। ऐसा न करके हम अपने कर्तव्य की अव-हेलना ही करेंगे। सीता को अपनी पवित्रता सिद्ध करने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी ही पड़ी थी।

ब्रज भाषा पर मुख्यत: निम्नांकित आरोप लगाए जाते हैं—

१—ब्रज भाषा में मात्र शृंगारिकता है। उसके मूल स्वर विलासिता या कामुकता का है। इसमें केवल शृंगारिका हास-विलास, हाव-भाव और कच-कुच-कटाक्षवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं। वह उत्तेजक है, वासनामय है और अश्लील है। वह विलासी समाज की देन है।

२—यह भाषा पुरानी पड़ गई है। निर्जीव है। इसके शब्द घिस गये हैं, इसमें ओज नहीं। शब्दों की तोड़-मरोड़ के कारण यह भाषा भी टूटी-फूटी है। इसकी उपमाएं असंगत, अस्वाभाविक और हास्यास्पद है। शब्दगत अनुप्रासिकता, निरर्थक अलंकारिकता और बेतुकी अत्युक्तियों के अतिरिक्त इसमें है ही क्या ?

३— इसमें प्रांतीयता है, राष्ट्रीयता नहीं। देशी-विदेशी साहित्यों में जो प्रयोग और प्रगति की धाराएं बह रही हैं, उस नवचेतना और नये समाज की अनुभूतियों को वाणी देने में यह सक्षम नहीं।

आइए, इन आरोपों की वास्तविकता पर किंचित् गंभीरता से विचार करें। इनमें से कुछ का खड़ी बोली के आदि कवियों में से एक, स्वनामधन्य पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने बड़ा सारपूर्ण उत्तर दिया है। ब्रज भाषा के संदर्भ में कविता क्या है— का उत्तर देते हुए हरिऔध जी लिखते हैं—'जिसका शब्द-विकास सर्वोत्तम हो. जिसमें माधुर्य, रोचकता और सहज प्रवाह हो, मधुर शब्द-मयी कल्पना हो, अर्थपूर्ण संगीत हो, जिसकी शब्द-योजना में चमत्कार हो, रमणीयता हो, स्वारस्य हो, मोहक व्यंजना हो, वही कविता अथवा काव्य है। मैं जब कला की कसौटी पर ब्रज भाषा की कविता को कसता हूं तो उसको बावन तोले पाव रत्ती ठीक पाता हूं। कविता के सभी गुण उसमें पाये जाते हैं। इस विषय में वह संसार की किसी भी समुन्नत भाषा का सामना कर सकती है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध और मान्य कवियों ने जब जिस भाव का चित्रण किया है, उस समय उस भाव का उत्तम से उत्तम चित्र खोंचकर सामने रख दिया है। आप चाहे जिस चित्र को उठा लीजिये और कला के भाव से उस पर दृष्टि डालिये, तो आपको आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ेगा।"

नये साहित्य के जोश में ब्रजभाषा की आलोचना करने वालों से हमें यह पूछना है कि क्या साहित्य में शृंगार-पक्ष त्याज्य है ? क्या कला की सार्थकता कृतिकार के सौन्दर्य-बोध में नहीं है ? ऐसा लगता है कि ब्रजभाषा साहित्य के शृंगारिक पक्ष : संयोग-शृंगार: और उसके रति-विलास पर ही आलोचकों की नजर गई है। वह अपनी वासना की खोज ही ब्रज-कविता में करते रहे हैं। लगता है, यशोदा, राधा और गोपियों के वियोगजनित उच्छ्वासों में उनका अहम् विगलित नहीं हुआ। क्या रीतिकाल के रतिरंग-विषयक कुछ छन्दों को ही वे ब्रजभाषा का काव्य मान बैठे ? साहित्य की कृष्णाश्रयी और रामाश्रयी रचनाओं में जो भक्ति

और ज्ञानकी अन्तस्तोया यमुना बह रही है, क्या उसमें उन्होंने कभी अवगाहन किया किया है? रीतिकालमें भी बोधा, वृन्द, गिरधर दास और 'सुदामाचरित' के नरोत्तम-दास नीतिज्ञ कवि हुए हैं। भूषण, सूदन और लाल जैसे ओजस्वी वाणी के अग्रदूत जन-जन में वीर और ओज जागृत करने वाले कवियोंकी ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। आधुनिक युग में भारतेन्दु बाबू, रत्नाकर और सत्यनारायण की चिर-नवीन कवि-काकली का मधुर कुंजन भी उन्होंने नहीं सुना है। ब्रजभाषा की कविता को हीन समझने वालों के लिए यही कहना पड़ेगा कि उनके फतवे भी बिल्कुल ऐसे ही हैं जैसे आजकल के नेताजन बिना हिन्दी साहित्य को पढ़े उसकी उप-लब्धि के सम्बन्ध में आये दिन अनर्गल प्रलाप किया करते हैं। तोष कवि का एक साहित्यिक छंद देखिये—

कामैं कला के कुतूहल में,
कहुं नींद गई लगी श्री घनश्यामैं
यामैं रही रजनी कवि 'तोष'
बजावन बीन लगी अभिरामैं
खामें रह्‌ओ बिधु-बाहन मोहे
लख्यो बिरही चकवान की बामैं
'हा ! मैं कियो यही कामें कहा ?'
कहि पी संग पौढ़ि गई पलिका मैं ।

अब इस कविता के भाव-चित्र की ओर किसी का ध्यान न जाये और वह नायिका की पर दुख-कातरता को लक्ष्य न करे और उसका ध्यान काम-कुतूहल पर ही अटक जाये, तो क्या करे कविता और क्या करे बेचारा ब्रज का कवि ?

ब्रजभाषा के श्रृंगार-पक्ष में शुद्ध श्रृंगार के स्वकीया-निरूपण के उत्तमोत्तम चित्र बिखरे पड़े हैं। इन्हें कोई देखे तो सही। एक कविता देखिए—

सुथरे संवारे बार, सेंदुर सो मांग भरी,
सीस-फूल जोति सब जोतिन सो आगरी।
सारी, ए किनारी जरतारी-भाल रोरी आढ़
बिंदिया जरख रही नैनन सौं लाग री।
बड़े नैन, छोटी नथ, गोरे मुख पान रचै,
मेहदी चुअत 'दयानिधि' अनुराग री।
गरब-गहेली छबि पांयन सौ पेली, हेली!
देखि अलबेली या नवेली को सुहाग री।

परन्तु इस गर्व-गहेले, अलबेले, नवेले और सहज स्वाभाविक चित्रात्मक और रूप रस से लबालब सौभाग्य की ओर किसी का ध्यान जाए तब न ? ध्यान तो हमारे समाज-सुधारक समीक्षकों का 'धरी जब बांही तब करी तुम नाहीं' तक ही

सीमित और केन्द्रित रहता है। व्रजभाषा में भी शुद्ध अंग-सौष्ठव या माडर्न आर्ट की कमी नहीं है। उसे किसी ने आंका ही नहीं। नारी और उसे कलात्मक रूप में प्रस्तुत करके नायिका के प्रेम को शील और सौन्दर्य की परिधि में अंकित करने वाले व्रज कवियों की रूप और रस की ललक को किसी ने देखा तक नहीं। वे जब इस विधा को अपनी कविता में उतारते हैं तब उनकी भाषा शब्द-सौन्दर्य से सुसज्जित जूही की डाल की तरह कैसी लहकती और चटकती चलती है, इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

इक दीनी अधीनी करें बतियां
जिनकी कटि छीनी, छलामें करें।
इक दोष धवें, अपसोस करें,
इक रोष के नैन ललामें करें।
कहे 'तोष' जुटी जुग जंघन से
उर दै, भुज स्यामैं सलामें करें।
निज अंवर मांगे कदम्ब तरें
वृज-वामे कलामें मुलामैं करें।

इसमें अफसोस का 'अपसोस' और मुलायम का 'मुलामैं' लालित्य के साथ सहज भाव से आकर जुड़ गया है और बाहर से आये हुए शब्दों को मधुरिमा के साथ अपनाकर पेश किया गया है। व्रजभाषा में तत्सम और तद्भव शब्दों का किस कुशलता से शल्य विधान किया जाता है, यह छंद उसका एक उदाहरण है। हम पूछना चाहते हैं कि आधुनिक चित्र और काव्य कला की हाहाकारी विरुदावली गाने वाले लोग क्या इस दृश्य को चीर-हरण का एक तथा-कथित दूषित प्रसंग मानकर ही मुंह बिचका लेंगे? क्या इन तन्वंगियों, पुष्टपयोधराओं, लज्जा और काम से युक्त मनोहारी अंगनाओं के रूप-शील और विवशताओं के दृश्यांकन को सहज में ही नकारा जा सकता है? क्या व्रजभाषा की ऐसी कविताएं नई कविता या अकविता तथा न जाने क्या-क्या नामाधारिणी, कामवासनाओं से कुत्सित, सामाजिक शील को छिन्न-भिन्न कर डालने वाली कविताओं से भी गई-गुजरी हैं? क्या 'कला कला के लिए' सिद्धांत की दुहाई देने वाले इसे वयः सन्धि की तुलना फ्रांसीसी न्यूड मूर्तियों और आधुनिक चित्रकला से करने की कृपा करेंगे? पाश्चात्य कला को, व्रज कविता के शरीर सौष्ठव के परिप्रेक्ष्य में, क्या आज के मनोवैज्ञानिक और शरीरधर्मी समालोचक दोनों के स्तरों को परखने के लिए समय निकालेंगे? उदाहरण प्रस्तुत करने से पहले मैं कविता के रूपक की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। शम्भु कवि कहते हैं कि नारी के मनोहर अंग भट्टी की तरह दहक रहे हैं। कामदेव रूपी कलार (शराब खींचने वाले) ने उम्र की शिशुता को जलाकर खाक कर दिया है। बड़े-बड़े बाल क्या हैं—मानो धुएं की

धाराएं हैं। कण्ठ में लाल के हार क्या हैं, मानो अंगारे दहक रहे हैं। इनके नीचे सुन्दर एक नाभि पात्र रखा हुआ है। इसमें कंचन उरोजों से आसव की धारा रोमावलि के माध्यम से रह-रहकर चू रही है—

मनोहर अंग की भूटी रची,
सिसुताइ जराइ अनंग कलार
कहैं कवि 'सभु' यों देह सी दीपति
ज्वाला अंगार से लाल के हार।
बड़े सिर-बार, ज्यों धूम की धार,
धर्यौ तरु-भाजन नाभि सुढार
रोमावलि कंचन कुंभ उरोजनि
ते मनौ च्वै चलि आसवधार।।

व्रज कविता जिस मनमोहिनी भावभूमि पर खड़ी है, उसके कवि ने उसे जिस मुग्धभाव और हृदय के सम्पूर्ण रस से सिक्त किया है, तथा जिस मानसिकता ने जन्म दिया है, उसे बिना जाने-पहचाने उसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। समीक्षा में अनिष्ट तभी होता है जब आलोचक अपना आग्रह कृति पर आरोपित करने की कुचेष्टा करता है। कवि किस भाव तरंग में बह रहा है, उसकी सरस शब्दावली किस मंजुल-मूर्ति को रूपायित करने में प्रयत्नशील है— बिना इसे जाने व्रज की कविता के मर्म को नहीं जाना जा सकता। देव कवि की नायिका के अन्तस् में बैठने के लिए तनिक इस छन्द की छटा तो देखिए—

जब ते कुंवर कान्ह राबरी कला निधान,
कान परी वाके कहूं सुजस कहानी सी,
तबही ते 'देव' देखी देवता सी हंसति सी,
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी।।
छोटी सी छली सी छिन लीनी सी छकी छिन सी,
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बीधी सी बंधी सी विष बूड़ति विमोहति सी,
बैठी बाल बकति बिलोकित बिकानी सी।।

प्रेमासक्ति की विविध अवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन आपने उक्त छंद में हृदयंगम किया? नायिका क्षण-क्षण किन-किन भावों में डूबती उतराती है और पल-पल में क्या से क्या होती जाती है, इसका सूक्ष्म विवेचन इस छंद में जिस कुशलता के साथ हुआ है उसमें आपको सात्विक भावों के उत्कर्ष के अतिरिक्त कुछ और मिला? व्रजभाषा के सहस्रों छंद ऐसे हैं जो मानव-मनोविज्ञान को ऐसे अनूठे लालित्य के साथ प्रस्तुत करते हैं कि देखते ही बनता है। उदाहरण के लिए, हम देव कवि का ही एक अनुपम सवैया यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें मान का उदय,

बढ़ाव और विमोचन केवल आंगिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा दर्शाया गया है—कि मान ओठों से उठा, यानी ओठों में हलचल तो हुई, लेकिन नायिका बोली नहीं। तब मान पीठ पर बैठ गया। यानी नायिका ने पीठ मोड़ ली। उसके कंधों में हरकत होने लगी। मुख मुड़ गया। तब मान नायिका के अंगों को सिकोड़ता हुआ आगे बढ़ा। मस्तक पर चढ़कर उसने भौंहों को मरोड़ना शुरू कर दिया। लेकिन जैसे ही प्रियतम ने उसे अपने अंक में लिया तो नायिका का मान उन्हें कनखियों से देखने लगा। वाणी अभी भी मूक थी, मान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अब भी शब्द नहीं मिल रहे थे, तो वह आंसुओं में डूब गया। उसांसों में उतराने लगा और अन्त में हिलकियोंकी हिलोरों से वह दूर जा पड़ा, यानी मोचन हो गया।

ओठनि ते उठ, पीठी पै बैठि,
कंधान पै बैठि, लग्यो मुख मोरनि।
अंग-सिकोरनि तै बढि कोप,
लिलार चढ़्यो बढ़ि भौंह मरोरनि
अंक में लाय मयंक मुखी लई,
लाल की ओट चितै दृग कोरनि।
आंसुन बूढ़्यो उसांस बढ़्यौ ढ़किधौं
मान बढ़्यो हिचकी की हिरोरनि।।

मन की या मान की ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति विश्व की कितनी कविताओं में हुई है—यह शोध का ही विषय है। ऊपर हमने जानबूझकर जिन चार छंदों का उल्लेख किया है, उनमें सुरति-प्रिया, मुग्धा, जलकेलि-निमग्ना मध्या और मानिनी नायिकाओं के सरस वर्णन है। पर क्या उनमें अश्लील, कामोत्तेजक अथवा कुत्सित चेष्टाओं के कोई चिन्ह आपको दिखाई दिये ?इसके विपरीत यौवनागम, प्रेमासक्ति, स्वकीया-शृंगार और मानिनी नायिकाओं की ललित मन:स्थिति का कलासौष्ठव ही इनमें विखरा पड़ा है। यही व्रज कविता की विशेषता है। यही उस रस की मनभावन उपलब्धि है जो व्रज की कविता में यत्र-तत्र-सर्वत्र विखरी हुई है।

प्राय: व्रजभाषा के ऋतु-वर्णन और प्रकृति चित्रण को वर्णनात्मक और उद्दीपक बताया जाता है।कहा जाता है कि इनमें नैसर्गिक एवं संश्लिष्टप्रकृति-चित्रण नहीं है। या तो शब्दों का घटाटोप है, या परम्परागत अलंकारिकता है। आरोप है कि प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना व्रज के कवियों को आता ही नहीं, उन्होंने प्रकृति अथवा ऋतुओं का चित्रण संयोग अथवा वियोग की दशाओं में इनकी अनुकूलता और प्रतिकूलता को बढ़ाने के लिए ही किया है। लेकिन इसे देखने के लिए जिस आंख की जरूरत है, वह आलोचकों के पास है ही नहीं। इसके प्रमाण में हम बैनी कवि का एक छंद यहां प्रस्तुत कर रहे हैं—

वियत बिलोकत मुनिमन डोल उठे,
बोल उठे बरही बिनोद भरे बन-बन।
अकल बिकल व्है बिकाने से पथिक जन,
ऊर्ध्व मुख चातक, अधो मुख मराल गन।
बैनि कवि कहत महि के महा भाग जागे
सुखद संयोगिनि वियोगिनि के ताप तन।
कंज-पुंज गंजन, कृषि के मन-रंजन,
सु-आये मान-मंजन ये अंजन बरन घन।

यद्यपि इस छंद में संयोगिनि वियोगिनी और मानभंजन शब्दों की अवतारणा हुई है, लेकिन आकाश में काले बादलों को देखकर प्रकृति में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं और नरनारियों की ही नहीं, पक्षियों की भी कैसी मनःस्थिति हो जाती है—पावस के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य पर रसिक जन ध्यान दें। लेकिन ब्रजभाषा के विरोधी विद्वानों को हम क्या कहें, जिनमें अधिकांश यह भी नहीं जानते कि वियत का अर्थ आकाश होता है।

ब्रजभाषा का श्रृंगारिक पक्ष संगीतात्मक है। जैसे संगीत में राग का ठाठ होता है, वैसे ही ब्रज के कुशल कवि जिस विषय का वर्णन करते हैं, उसका ठाठ बांध देते हैं। वैसे ही ब्रज के वरिष्ठ कविजन अपनी रचनाओं में अर्थ-स्वारस्य के साथ शब्दों की ताल युक्त गमक से वह लयकारी पैदा कर देते हैं कि उनकी संगत के लिए वाद्ययंत्रों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। मल्हार के साथ मृदंग स्वयं बजने लगती है।

धवल महल के अटा पै घटा देखे दोऊ
ती की तान मान सौं मल्हारन को गाय गाय।
धुमाटिक धिकिट धिलांग धिधिकिट धुनि,
मधुर मृदंग बजैं सखी सुनि चाय चाय।
सुनि-सुनि आये घौरे, धूं धरै, धुधारे भारे,
धूमरे सघन घन 'श्री गोविंद' छाय-छाय ।।
कैकी नचैं कूकि कूकि, त्यौं-त्यौं धूकि-धूकि
धरत धरा पै पग धराधर धाय-धाय।

कहिए पावस के इस प्रसंग से आपके मन में भी मृदंग बजने लगी न? याद आ गया न सुमित्रानन्दन पन्त का वह गीत कि 'धूम-ध्वारे काजल कारे हमहिं विकरारे बादल?' यह वही पंत जी है जिन्होंने अपने 'पल्लव' की भूमिका में ब्रज कविता की भर्त्सना करने का बीड़ा उठाया था। स्वयं अपनी कविताओं में रे रे का अनगिनत प्रयोग करने वाले रकार-प्रेमी पन्त जी का कहना था कि ब्रजभापा में प्रिय के स्थान पर 'पिय' लिखने की गलत परिपाटी है। वह यह भूल गए कि शब्दों को

रसानुकूल रूप और अर्थ प्रदान करना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह सीता को सिया और सिय, प्रिय को पी और प्रिया को पिया या पिय तथा हृदय को हिया या हिय कहने में कभी संकोच नहीं करता—'सिय पिय हिय की जाननहारी'। अब करे कोई महाकवि तुलसीदास की इस श्रुति-मधुर शब्दावली की कुत्सा ? ब्रज भाषा ने कभी भी अपने को संस्कृत के तत्सम शब्दों या कर्ण-कटु शब्दों के दायरे में नहीं बांधा। विकासमान भाषाओं की तरह उसने अपनी मधुर शब्दावली स्वयं तैयार की है। पन्तजी सहित अन्य हिन्दी के आधुनिक कवि भी इसके अपवाद नही हैं।

प्रश्न भाषा का नहीं, अनुभूति का है। भाव-प्रवणता के लिए जैसी भाषा की आवश्यकता होती है, यदि कवि तदनुकूल शब्द-योजना नहीं करता तो उसे रस-च्युत ही माना जाएगा। जहां शृंगारिक कविता की रसाभिव्यक्ति के लिए ब्रज के कवियों ने छोटे-छोटे संगीतात्मक मधुर शब्द-शिल्प की संयोजना की है वहां वीर-दर्प को व्यक्त करने के लिए उसकी शब्दावली से अनूठे ओज को भी विकसित किया है। ब्रज का वीरकाव्य ऐसे निनादित होता है जैसे रण-दुंदुभि।

इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारि वाह पर संभु रति नाह पर,
त्यों सहस्त्र बाह पर राम द्विज राज है।।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुण्ड पर,
'भूखन' वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंश पर शेर सिवराज है।।

कवि पद्माकर को साहित्य के इतिहास-लेखक प्रायः उनकी अनुप्रासिकता और उद्दीपन के विविध संरजाम जुटाने वाले कवि के रूप में याद करते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि पद्माकर केवल रति-रंग के ही नहीं, रण-रंग के भी उद्भट कवि थे। एक उदाहरण लीजिए—

तीखे तेगवाहि जे सिपाहि चढ़े घोड़न पै
स्याही चढ़ि अमित अरिन्दन की रैल पै।
कहै पद्माकर निसान चढ़े घोरन पै
धूमधार चढ़ी पाक शासन की सैल पै।
साज चतुरंग चमू जंग जोरिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त कर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहालि चहै वांहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़े बैल पै।

भूषण और पद्‌माकर ही नहीं, कविकुल-गुरु तुलसीदास ने भी जब राम-रावण युद्ध का वर्णन किया है तो 'तुलसीदास सीदति निसिदिन, लखि तुम्हार प्रभुताई' जैसी श्रुति-मधुर भाषा लिखने के अभ्यस्त कवि की वाणी ने भी रौद्र रूप धारण कर लिया था—

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत,
विकट बीर बिद्दरन धीर बारिद इमि गज्जत।

ब्रजभाषा के वीर काव्य को लोग कर्णकटु शब्दों का समुच्चय ही मानते हैं। कहते हैं कि उसमें वीर भावना का सम्यक् परिपाक नहीं हुआ है। भावना का परिपाक तो वे तब मानें जब स्वयं उनके मन के किसी की भी कोने में वीरत्व का लेश विद्यमान हो। जब पूर्वाग्रह से ग्रस्त खंडन करना ही अभीष्ट हो, तब उनसे न्याय की आशा करना व्यर्थ है। यहां हम इस कथित शब्द-चमत्कार से विहीन वीररस के एक अछूते छंद को प्रस्तुत कर रहे हैं। देखें, अब भी ब्रजभाषा के सम्बन्ध में इन महानुभावों की धारणा बदलती है या नहीं—

सक्र जो न मांग लेतो कुंडल कवच, और
चक्र जो न लीलती धरनि, रथ धारतो।
कुंती जो वे सरना समेट लेती महाराज
साथ जो न होतो सल्य सारथी हंकारतो।
'तोष' निधि जो पै वह पीत पटवारो प्रभु
सारथी पने को कुछ सारथ न सारतो।
तो पै वीर करन प्रतापी रविनंदन हू
पांडु पूत सैना को चबैना कर डारतो।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर की भीष्म प्रतिज्ञा से लेकर हमारे बाल बन्धु राम लला कवि की अमृत-ध्वनि सहित सहस्रों वीररस के छंद ब्रजभाषा के वीर काव्य की अनूठी निधि हैं। इन्हें वीरासन पर बैठकर बिना ध्वनि विस्तारक यंत्र के पढ़ा जाता था और इनके श्रवण मात्र से लोगों की शिराओं में गरम खून दौड़ने लगता था। यदि वीर रस की ये कविताएं केवल टवर्ण और द्वित शब्दों का ही वाग्जाल होतीं तो लक्ष लक्ष लोगों की कंठ हार कैसे बन पातीं? शिवाजी महाराज भूषण के एक ही कवित्त को ५२ बार कैसे सुनते? छत्रसाल भूषण की पालकी में कन्धा कैसे लगाते? दिल्ली को लूटने वाले जाट राजाओं के हौसले महाकवि सूदन ने ही बढ़ाये थे। यही बात लाल कवि के सम्बन्ध में भी है। उनका एक छंद देखिए—

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलय भानु की सी
फारैं तम-तोम से गयन्दन के जाल को।
लागत लपकि कण्ठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहि रिझावै दै दै मुण्डन की माल को।

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बलि
कहा लै बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि
कालिका सी किलक कलेऊ देति काल को ।।

ब्रजभाषा के कवियों को ही यह सौभाग्य प्राप्त रहा है कि वे अपने नायकों को सदैव धर्म-युद्ध के लिये प्रेरित करते रहे हैं। वे युद्धों में भी उनके उत्साहवर्धन के लिए अकसर साथ रहा करते थे। उनका व्यक्तित्व ही नहीं, इष्ट भी ओजमय बन गया था। श्रीकृष्ण का चरित ब्रज कवियों के लिए मुख्यतः शृंगार का ही विषय रहा है, लेकिन 'सूदन'ने अपने सुन्दर गोपाल की स्तुति वीर नट वेश में की है। वीर-रस के इस अनुपम छंद की ओर तनिक दृष्टिपात तो कीजिए—

ऐंठि बांध्यो मुकुट, समेटि घुंघरारे बार,
कुंढ़ल चड़ाये कान, कलगीसुघट की।
जांघिया जकरि कँ, अकरि अंगराग करि,
कटि में लपेटी कसी पेटी पीत पटकी।
भ्रगुपद अंक ढाल, सकति श्रिया को चिन्ह,
'सूदन' सनाह बनमाल लाल लटकी।
कोटिन सुभट को निहारि मति सटकी,
सु सुन्दर गोपाल की धरनि भेष नट की।

क्या टवर्ण का प्रयोग यहां आपको खटकता है? क्या श्रीकृष्ण के नटवेश से आपके हृदय में सात्विक शौर्य की अनुभूति नहीं होती? कहने का तात्पर्य यह कि वर्णमाला का कोई अक्षर अपने आप में न तो त्याज्य है और न ग्राह्य ही। यह तो कवि की चयन-चातुरी है जो कर्कश लगने वाले वर्णों को भी मधु मिश्रित कर दिया करती है। रीतिकाल के सभी कवियों का यही आलम है। इन्होंने क्या नायिका भेद, क्या नखशिख, क्या सुरति, क्या विपरीत रति, क्या विप्रलम्भ, क्या विनय, क्या नीति और क्या भडौआ—जो भी लिखा, उसमें प्राण फूंक दिए। भाषा उनकी जिह्वा पर नाचती हुई आती थी। अलंकार, ध्वनि और उक्ति-वैचित्र्य उनके पीछे-पीछे डोलते थे। आज के समालोचक प्रायः जिस भोगे हुए यथार्थ की बात करते हैं, ब्रज के कवियों ने समर्थ पुरुषों की तरह उसे देखा ही नहीं, जिया भी था। सच्ची कविता कभी कल्पना की उड़ान नहीं हुआ करती। वह समाज के यथार्थ का प्रतिबिम्ब हुआ करती है। ब्रज की कविता भी यही है और यही इसकी कसौटी भी है। ब्रज की कविता का प्रभाव किसी को देखना ही हो तो वह आज भी ब्रज के अंचलों में देख सकता है—जहां आल्हा के गायन पर आज भी लाठियां चल जाती हैं और ढोला को सुनते-सुनते उसी रात प्रेमिकाएं अपने प्रेमियों के साथ भाग खड़ी होतीहै। अब हिन्दी के कवि सम्मेलनों में यद्यपि मंचीय कविताएं काफी जमने लगी हैं, लेकिन

अखबार की सुर्खियों और थानों की रिपोटों में आल्हा ढोला जैसे किस्से अभी तक नहीं सुने गए। इसलिए हमारा निवेदन है कि कविता को कविता की दृष्टि से देखना और कला को कला की दृष्टि से ही परखना चाहिए। कविता और कला का मुख्य लक्ष्य सहृदयों पर उसके द्वारा पड़ने वाला प्रभाव ही है। अगर कविता रस-सागर में निमग्न करती है, वियोग में संवेदना जागृत करती है, वीर-भाव में भुजाओं को फड़काती है, हास्य में मुस्कान बिखेरती है और शांतिरस में हृदय को निर्मल करके भक्ति रस में आप्लावित करती है, तो वह धन्य है, सफल है और पूर्ण काम है। हमने ब्रज की भक्ति और ज्ञान विषयक पदावलियों के पठन-पाठन से लोगों को भक्त और सन्त बनते अवश्य सुना है। वृन्द, रहीम, गिरधरदास की नीति-सूक्तियों पर चर्चा ही नहीं, आचरण करने वालों की भी कमी नहीं है। सूरदास, मीरा, कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास और नानक आदि असंख्य कवियों की रचनाएं सैंकड़ों वर्षों से यदि आज लोगों की जिह्वा पर हैं तो क्या यह ब्रजकाव्य की सारवत्ता का सटीक प्रमाण नहीं है ? जो समाज साहित्य का हित नहीं करता, उसे कोई याद करने का कष्ट नहीं किया करता। ब्रजभाषा का साहित्य सच्चे अर्थों में जन-मन रंजक ही नहीं, जनता के शाश्वत योगक्षेम से भी जुड़ा हुआ है। इसीलिए वह टिका हुआ है और टिका भी रहेगा।

हां तो बात ब्रजभाषा पर लगाए जा रहे आरोपों की हो रही थी। प्रसंग शृंगारिकता का था। इसीलिए हमने रीतिकाल से ही उदाहरण देकर यह बतलाने की चेष्टा की है कि ब्रजभाषा में केवल कच-कुच-कटाक्ष ही नहीं हैं, उसमें नैसर्गिक और शुद्ध शृंगार भी पर्याप्त मात्रा में है और वह इस कोटि का है कि उसे किसी भी भाषा के साहित्य के समकक्ष गर्व से रखा जा सकता है।

शृंगारिकता शृंगारिकता चिल्लाने से शृंगार का महत्व नहीं घटता। शृंगार तो रसराज हैं : उसका स्थायी भाव रति यानी प्रेम है। इसके संबंध में कबीरदास कह गए हैं ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सौ पंडित होय।' यदि जीवन से प्रेम निकल जाएगा तो बचेगा ही क्या ? रतिहीन साहित्य तो विरति को ही जन्म देगा। इस प्रेम के द्वैता-द्वैत भाव को व्यक्त करते हुए प्रेमी रसखान कह गए हैं—

प्रेम हरि को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक हाये द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप॥

इस प्रकार प्रेम परमात्मा का ही स्वरूप है। पर जब वह घोर शरीरी हो जाता है, तो निन्दा का पात्र बनता है। ब्रजभाषा में तो शरीरी शृंगार से कहीं अधिक अशरीरी शृंगार की महत्ता है। उसकी ओर लोगों का ध्यान क्यों नहीं जाता ? मात्र दोष दर्शन से ही हम किसी कृति या कृतिकार के साथ न्याय नहीं कर सकते। कुछेक कामोत्तेजक शृंगारी कविताओं के कारण सम्पूर्ण ब्रजकाव्य को नकारा नहीं जा सकता। यह ठीक हैं कि ब्रजभाषा काव्य में संयोग-शृंगार की रचना करते

समय कविजन कहीं-कहीं बहक गए हैं, लेकिन विप्रलम्भ शृंगार में, जो ब्रजभाषा की जान है, प्रेम की आकुल व्याकुलता, हृदय की कसक और निर्दोष तथा पवित्र प्रेम की जो अभिव्यक्ति हुई है, उसकी तरफ भी तो ध्यान जाना चाहिये। सच्चे प्रेम को ही नहीं, सच्ची कविता को भी वियोग की ही कसौटी पर कसा जा सकता है। ब्रज-भाषा का विप्रलम्भ काव्य इस कसौटी पर खरा उतरा है। यशोदा का कान्हा से विछोह और राधा तथा गोपियों के सात्विक विरह-वर्णन इसके पावन प्रतीक हैं। सन्तों और सूफियों के विरह विदग्ध काव्य को कोई पढ़े तो सही। रसखान और घनानन्द और कविरत्न सत्यनारायण के उच्छ्वासों को अनुभव किये बिना ब्रज के विरही लोगों की व्यथा नहीं आंकी जा सकती।

आज के साहित्य में दमित काम अथवा कुंठाओं और यौन सम्बन्धों पर धड़ाधड़ लिखा जा है और उसे आज की तथाकथित सामाजिकता का प्रतिबिम्ब मानकर सही भी ठहराया जा रहा है, तो ब्रजभाषा के रीतिकाव्य के उन्मुक्त रतिविलास को हेय बताने के पीछे क्या तर्क है? हम ऐसे साहित्य का समर्थन नहीं कर रहे। केवल यही कहना चाह रहे हैं कि हे भाइयो! यदि ब्रजभाषा के काव्य साहित्य पर कलम चलानी है और उस पर कुछ रायबहादुरी भी करनी है, तो कृपा कर पहले उसे पूरी तरह पढ़ने का तो कष्ट कर लीजिए। केवल दूलह आदि कवियों की रचनाओं को पढ़कर या नायिक भेद के निरूपण के लिए प्रसंगवश लिखे कुछ उदाहरणों को देखकर ही आप बिदकिये मत। ब्रजभाषा में देव, मतिराम, रसलीन रसखान, घनानन्द जैसे कवि भी हैं। इसके साहित्य को भी तनिक पढ़ने का कष्ट कीजिए।

लम्पटता जितनी आसान है, प्रेम करना उतना आसान नहीं। प्रेम करना कुछ लोगों के लिए भले ही आसान हो पर प्रेम पंथ पर कलम चलाना तो सबसे कठिन है। परकीया प्रेम की निंदा करना आसान है, परन्तु क्या हम समाज और साहित्य में से परकीया को आसानी से निकाल सकते हैं? बोधा कवि की इस चेतावनी के बाद भी कि प्रेम का पंथ तलवार की धार पर चलने के समान है, किस समर्थ व्यक्ति और उसे अभिव्यक्त करने वाले कवि ने इस डगर को छोड़ा है—

अति खीन मृणाल के तारहुं ते—
तेहि ऊपर पांव दै आवनो है।
सुई बेह कौ बेधि सकै न जहां
परतीति को टांड़ो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुं तें,
चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा—
तलवार की धार पै धावनो है।

ब्रजभाषा के कवि इस खांड़े की धार पर चले हैं। चले ही नहीं, मुदित होकर नाचे भी हैं ! परकीया प्रेम की देव-वर्णित एक उत्कट अभिव्यक्ति देखिए—

कोऊ कहो कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी, कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसी परलोक, नरलोक वर लोकनि मैं,
लीनी मैं अलीक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाय, मन जाय, देव गुरुजन जाय,
जीव क्यों न जाय टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारं बनवारी के मुकुट पर,
पीत पट वारी, प्यारी मूरति पै वारी हौं।

प्रेम में द्वैत नहीं रहता, वहां तो प्रेमी और प्रेमिका दोनों एकाकार हो जाते हैं। तब किसी को कुछ नहीं सुहाता—रात ना सुहात, ना सुहात परभात आली, जब मन लागि जात काहूं निरमोही सों' देव कवि ने इस अद्वैत प्रेम को प्राणवान अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है—

रीझि रीझि रहसि रहसि, हंसि हंसि उठैं
सासें भरि, आंसू भरि, कहत दई दई।
चौंकि चौंकि, चकि चकि, उचकि उचकि देव.
जकि जकि, बकि बकि, परति बई बई।
दुहुंन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरै,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहनमयी भई॥

आपने परकीया प्रेम के कुछ निर्दोष उदाहरण देखे। अब पति-प्रेम में पगी किन्तु भारतीय शील मर्यादा में भी सर्वोपरि स्वकीया के एक उदाहरण पर भी ध्यान दीजिए। ब्रज-काव्य को मांसल, नग्न और शरीरवाद से युक्त कहने वाले को यह भी जानना चाहिए कि ब्रज साहित्य में नारी का सही रूप क्या है ?

फूलन सों बाल की बनाई गुही बेनि लाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की असित है।
अंग-अंग भूखन बनाइ ब्रज भूखन जू.
बीरी निज कर ते खवाई करि हित है॥
ह्वै कै रस-बस जब दीवे को महावर के,
सेनापति श्याम गहयो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाय रही आंखिन सौं,
कही प्रानप्यारे यह अति अनुचित है।

सम्पूर्ण ब्रज-काव्य इस प्रकार की कुल-शीलयुक्त ललनाओं के कलापूर्ण चित्रण से भरा पड़ा है। चाहे स्वकीया हो या परकीया, मुग्धा हो मध्या, धीरा हो या अधीरा, अनुशयना हो या उत्कंठिता, प्रौढ़ा हो या बहुनायक की परिणीता, उन सबमें दाम्पत्य रस-विलास की अनुभूति के साथ-साथ संसार-सुख की जो झांकी मिलती है, वही ब्रज साहित्य की ऐसी देन है जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

अब तो पढ़न्त की परम्परा लगभग नष्ट हो गयी है। लेकिन मैंने अपनी युवावस्था में रीतिकाव्य के दो हजार से ऊपर कवित्त-सवैये कभी कण्ठस्थ किए थे। उनके पठन-पाठन से मैं बहुत चरित्रहीन हो गया हूं, ऐसा तो नहीं लगता। इसके विपरीत सच्चाई तो यह है कि मुझे जो थोड़ा बहुत साहित्य का ज्ञान हुआ है वह सब विभूतिमती ब्रजभाषा की ही देन है। मैं ही क्यों, आज से पचास वर्ष पूर्व जो भी हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में उतरा है, उसने ब्रज-साहित्य की मानसी गंगा में अवश्य ही गोते लगाए हैं। लेकिन—

कविता में जब ते बिसरि ब्रजभाषा गई,
संतन की सेवा गई, देवन की बंदना।
'व्यासन' की नीति गई, जीवन से प्रीत गई.
रस की प्रतीत गई, अर्थ रहे छंदा ना।
रहे हैं रहस्य, छाया हाला प्याला कुप्रयोग
महिषी की नंदिनी औ गर्दभ के नंदना।
सुक-पिक ख्याल गयै, मानस मराल गयै,
दिन में ही रैन है, चकोर चितै चंदना।

•

क्या दिया : ब्रज का कला-सौष्ठव

ब्रज की देन का किस विधि बखान करें! भारतीय जीवन और उसका सहस्त्रों वर्षों का इतिहास ब्रज के पुष्कल अवादानों से भरा पड़ा है। भारत-विद्या का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जो ब्रज वैभव से चमत्कृत न हो। चाहे जाट-मराठों का युग हो अथवा मुगलकाल, चाहे शकों और यूनानियों का समय हो अथवा नागवंश या गुप्त वंश का; चाहे बौद्ध काल हो अथवा जैन महामुनियों और तीर्थंकरों का समय; चाहे महाभारत का युग हो अथवा मर्यादा पुरुषोत्तम के राम-राज्य की पावन बेला—ब्रज के रूप-रस की, दर्शन और शास्त्र की, साहित्य और कला-वैभव की, संस्कृति और सभ्यता की, लोकमयी और लोकोत्तर जीवन-पद्धति की अमिट कहानी इतिहास में सर्वत्र स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई है। कहीं वह पत्थरों पर उकेरी और तराशी हुई है तो कहीं विविध रंगों के संयोजन से युक्त चित्रांकनों में जैसे बोल रही है। कहीं वह संगीत की स्वर-लहरियों में झंकृत है तो कहीं ढोल-ढोलक और नक्कारों या ढप-मृदंग, बांसुरी और सारंगी के स्वरों में, नूपुरों की लयकारी के साथ उसे नृत्य-मुद्रा में देखा जा सकता है। ब्रज के बड़े-बड़े दुर्ग और छोटी-छोटी गढ़ियों, राजा और रईसों के कला-वैभव से मंडित प्रासादों और सन्तों तथा साधकों की कुटियों से लेकर जैनों और बौद्धों के संघारामों, विहार, स्तूप और स्तम्भों के भग्नावशेष—केवल ब्रज के वैभव की गाथा ही नहीं गा रहे बल्कि भारतीय इतिहास के उल्लेखनीय पृष्ठों को भी उजागर कर रहे हैं। इन पृष्ठों में स्थान-स्थान पर जैसे यह लिखा हो कि ब्रज के उत्थान-पतन का इतिहास ही,

भारत के उठने और गिरने की कहानी है।

हज़ारों वर्षों के इस इतिहास को इने-गिने पृष्ठों में कैसे उतारा जा सकता है? वह इतिहास जो भारतीय मनीषा के अनेक उज्ज्वल आयामों से दीप्तिमान है। वह इतिहास जो विदेशियों के आक्रमणों और उत्पीड़नों के साथ-साथ उनके भाषा-साहित्य संस्कृति और कला के आयात की भी कहानी है। वह इतिहास जिसने व्रज को अपनी भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक और कलात्मक सुरक्षा के लिए सतत सावधान किया है। वह इतिहास जिसे हर वार मिटाया गया, पर वह अमिट रहा। वह इतिहास जो केवल दिल्ली और आगरे के बीच का ही नहीं, सम्पूर्ण उत्तर भारत का है तथा जिसने समूचे दक्षिण भारत को आलोड़ित किया है। वह इतिहास नहीं, महाभारत है। इसे तो कोई अस्सी हज़ार शौनकादिक ऋषियों को सम्बोधित करने वाले शुकदेव के द्वापरकालीन पिता ही लिख सकते हैं, मैं कलिकालीन व्यास नहीं।

फिर भी, आइये, आपको इसका एक विहंगावलोकन कराएं। यदि यह वर्णन जिज्ञासुओं को व्रज समुद्र में अवगाहन करने के लिए उद्यत कर सके तो हम अपना प्रयत्न सार्थक मान लेंगे।

व्रज अत्यंत प्राचीन-काल से भागवत धर्म का गढ़ रहा है। जब भारत में बौद्ध धर्म का प्रचलन हुआ तो उसका प्रभाव व्रज पर, विशेषकर उसकी राजधानी मथुरा पर, वड़े विशद रूप में पड़ा। चीनी यात्री फ़ाहियान ने लिखा है—"यहां के (मथुरा) छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्यमुनि (बुद्ध) के बाद से यहां के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। मोटुलो (मथुरा) नगर तथा उसके आस-पास यूना (यमुना) नदी के दोनों ओर २० संघाराम (बौद्धमठ) हैं, जिनमें लगभग ३००० भिक्षु निवास करते हैं। छः बौद्ध स्तूप भी हैं। सारिपुत्र के सम्मान में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनन्द की स्मृति में तथा तीसरा मुद्गल पुत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों क्रमशः अभिधम्म, सुत्त और विनय के लिए निर्मित किये गए हैं, जो बौद्ध धर्म के तीन अंग (त्रिपिटक) हैं।" फ़ाहियान मथुरा में ४०० ई० में आया था। उसके बाद ६३५ ई० के लगभग, अर्थात २३५ वर्ष बाद आया हुएनसांग। वह लिखता है—"इस नगर में लगभग २० संघाराम हैं, जिनमें १,००० भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओं में हीनयान और महायान दोनों मतों के मानने वाले हैं। यहां पांच देव मंदिर भी हैं, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते हैं। राजा अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप भी यहां विद्यमान हैं। विगत चारों बुद्धों के भी अनेक चिह्न यहां दिखाई देते हैं। तथागत भगवान के साथियों के पवित्र अवशेषों पर भी स्मारक रूप में कई स्तूप बने हुए हैं।...विभिन्न धार्मिक अवसरों पर संन्यासी लोग बड़ी संख्या में इन स्तूपों का दर्शन करने आते हैं और बहुमूल्य वस्तुएं भेंट

में चढ़ाते हैं।···विशेष उत्सवों पर झण्डे और बहुमूल्य छत्र चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं। सुगन्धित पदार्थों का धुआं बादलों के समान छा जाता है और सब ओर से फूलों की वृष्टि होने लगती है। सूर्य और चन्द्रमा बिल्कुल छिप जाते हैं और पहाड़ों की घाटियां तुमुल घोष से निनादित हो उठती हैं। देश का राजा तथा उसके मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ धार्मिक कार्यों को करते हैं।" तात्पर्य यह कि मथुरा इन दिनों बौद्ध धर्म का विशाल केन्द्र था।

ब्रज ने उपगुप्त को जन्म दिया जिसने सम्राट अशोक और वासवदत्ता को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। ब्रज में ही बौद्ध धर्म के दूसरे स्तम्भ महाकात्यायन ने बुद्ध के दर्शन किए और दीक्षा प्राप्त की। इन्हीं महाकात्यायन ने वृन्दावन में अपने ऐतिहासिक संवाद द्वारा अवन्तिपुत्र को बौद्ध धर्मानुयायी बनाया। बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवाद का प्रवर्त्तन मथुरा से ही हुआ। ब्रज ने बौद्ध धर्म को नट-भट विहार और गुहा विहार दिये, देवकुल दिए, हुविष्क विहार दिया, अनेक संघाराम, स्तूप, और महायानी शाखा के कई मंदिर भी दिए। मथुरा में आज गोकर्णेश्वर महादेव की जो प्रतिमा है उसे भी पुरातत्व-वेत्ता कनिष्क किंवा हुविष्क की ही बृहद् प्रतिमा बताते हैं।

कुषाणकाल में मथुरा की मूर्तिकला अत्यन्त विकसित हुई। यद्यपि यह कला ब्रज में बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व ही प्रचलित थी, इसमें भागवत देवी-देवताओं, जैन तीर्थंकरों, अर्हतों तथा मुनियों की मानवाकृति मूर्तियां बन चुकी थीं, लेकिन कुषाण काल में यह कला निखर कर विश्वमान्य हो गई। इसने गान्धार कला, मथुरा कला और अमरावती कला जैसे तीन महत्तम रूप ग्रहण किए। मथुरा कला ने हिन्दुओं और जैनियों को भव्य, ऐतिहासिक मूर्तियां दीं। जैन मूर्तियों का शुभारम्भ तो ब्रज की मथुरा कला से ही हुआ है। मथुरा कला वह कला है जिसमें गान्धार कला और बैक्टीरियन कला या यूनानी कला का समन्वित विकास हुआ है। भगवान बुद्ध की प्रथम मूर्ति मथुरा में ही निर्मित हुई। ब्रज की बौद्ध मूर्तिकला में प्रतीक-चिह्नों का भी अंकन है और मानवाकृति मूर्ति का भी। बुद्ध की प्रारम्भिक मूर्तियां खड़ी तथा बैठी दोनों रूपों में मिलती हैं। बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व भी इन मूर्तियों में उभरा है। जातक कथाओं पर आधारित अनेक मूर्तियों का जन्मस्थल भी ब्रज ही है। इनमें यक्ष, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओं की ललित मूर्तियां मिलती हैं। मथुरा में बुद्ध मूर्तियों से पहले यक्ष-प्रतिमाओं का निर्माण अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है।

अब संक्षेप में जैन धर्म को 'ब्रज की देन' पर विचार करें। यह वह युग था जब मथुरा की स्थापत्य और भास्कर कला को देखकर दिग्दिगन्त के कला प्रेमी विस्मय-विमोहित हो जाते थे। ई० पू० छठी शताब्दी में निर्मित मथुरा के कंकाली टीले पर बौद्ध स्तूप तो भारत का प्राचीनतम स्तूप था ही, इसके अतिरिक्त इसी

स्थान पर जैन स्तूप और दो मंदिर भी यहां अवस्थित थे। ई० पू० छठी शती के शिलालेख भी यहां प्राप्त हुए हैं। उस समय मथुरा विश्व का सबसे पुराना शिल्प तीर्थ था। अनेक जैन साध्वियों ने अपने पिता, पुत्र और सम्बन्धियों की स्मृति में यहां पर सुन्दर, कलापूर्ण मंदिरों और मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया था। विभिन्न प्रकार के तोरण, द्वार, आधार स्तम्भ और उन पर उकेरे और तराशे हुए अलंकरणों और शिल्प-सौंदर्य ने भारत की वास्तुकला और मूर्तिकला को महिमा-मण्डित कर दिया है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं—"अनन्त वेदिका-स्तम्भों और सूची-दलों की सजावट का वर्णन करने के लिए तो कवि की प्रतिभा चाहिए।" आभूषण संभारों में सन्नतांगी रमणियों के सुखमय जीवन का अमर वाचन एक बार ही इन स्तम्भों के दर्शन से सामने आ जाता है।" ब्रज की जैन प्रतिमाओं में से जिन्होंने कलासिद्धि और इतिहास प्रसिद्धि प्राप्त की है उनके कुछ नाम इस प्रकार हैं—वर्धमान प्रतिमा, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, शान्तिनाथ की प्रतिमा। विशाल जिन प्रतिमा, ऋषमदेव की प्रतिमा, शिलास्तम्भ, ऋषभ प्रतिमा, कंकाली टीले की सरस्वती प्रतिमा एवं अरिष्टनेमी की प्रतिमा।

जैन और बौद्ध प्रतिमाओं के अतिरिक्त ब्रज में शिव और देवी दुर्गा की दिव्य मूर्तियां और भव्य मंदिर भी स्थान-स्थान पर स्थित हैं। तथागत की तरह शिवमूर्ति का भी प्रथम निर्माण मथुरा में ही हुआ था। शिव के द्वादश ज्योति उपलिंगों में से एक-भूतेश्वर, मथुरा में ही अवस्थित हैं। शिवमूर्तियां ही नहीं, उनके वाहन नान्दी, शस्त्र त्रिशूल आदि से अंकित सिक्के भी कभी ब्रज की टकसाल में ढला करते थे। शिव की पंचमुखी मूर्ति भी मथुराकला की एक विशिष्ट देन है। शिवलिंगों पर मुखाकृति का निर्माण भी गुप्तकाल में ब्रज से ही प्रारम्भ हुआ। यहां पर एक ऐसी मूर्ति भी मिली है जिसमें शिव-पार्वती नान्दी के सहारे खड़े हैं। मथुरा संग्रहालय में एक ऐसी शिवमूर्ति भी प्रदर्शित है जिसमें शिव-पार्वती कैलाश पर बैठे हैं और दशानन रावण उसे उठाए हुए है। ब्रज मंडल की खुदाई से प्राप्त शिव-पार्वती की अर्द्धनारीश्वर प्रतिमाएं भी संग्रहालय में हैं। शिव-पार्वती की परिणय-कथा का अंकन करने वाला एक दृश्य मथुरा संग्रहालय में देखा जा सकता है।

ब्रज में राधा-कृष्ण के मंदिर और मूर्तियों का ही बाहुल्य नहीं अपितु उनके भक्त भोलेनाथ की मूर्तियों और मंदिरों की भी कमी नहीं। ये मंदिर आराधना के ही नहीं, मूर्तिकला और शिल्प-सौष्ठव के भी अनूठे उदाहरण हैं। आइये, इनके दर्शन करें—मथुरा में भूतेश्वर, रंगेश्वर, पिपलेश्वर, गोकर्णेश्वर, गलतेश्वर, भैंसेश्वर, वीरभद्रेश्वर, सोमेश्वर, कालिंदेश्वर, वैकुण्ठेश्वर, राजराजेश्वर, रामघाट पर रामेश्वर, विश्राम घाट पर विश्वनाथ, सन्तघाट पर मुञ्जकेश्वर, रावणकोटि घाट पर कपर्दी शिवलिंग, भरतपुर दरवाजे पर लालेश्वर अथवा जागेश्वर, वृदावन

में गोपेश्वर, कामवन में कामेश्वर, गोवर्धन में कमलेश्वर, ब्रह्माण्डघाट पर चिन्ताहरण महादेव, नन्दगांव में नन्देश्वर और आसेश्वर, आगरा में बल्केश्वर, मंगलेश्वर, मनकामेश्वर, सिकन्दरा में कैलाश महादेव, हाथरस में चिन्ताहरण, अलीगढ़ में अचलेश्वर, खेरेश्वर, धरणीश्वर आदि। ऐसी कितनी ही दुर्लभ महादेव मूर्तियां और उनके सुन्दर मंदिर ब्रज ने शिव-भक्तों को प्रदान किए हैं।

घर-घर 'तुलसी-ठाकुर पूजा वाले' ब्रज-वृन्दावन में देवी दुर्गा की आराधना के रूप में शक्ति-स्तवन तो कदाचित् भागवत धर्म से भी पुराना है। राजराजेश्वरी राधारानी को भी यहां देवी के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। वही बरसाने की पहाड़ी पर श्री जी होकर विराजमान हैं। कात्यायनी की आराधना तो वैष्णव जन करते ही हैं। यहां की नन्दगोप सुता ही, विन्ध्यवासिनी बनकर विन्ध्याचल में विराजमान है। वही दिल्ली की महामाया है। ब्रज में देवी के अनेक मंदिर हैं जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—एकानंशा, सप्तमातृका, महिषमर्दिनी, सुरभि, रोहिणी, रेवती, गौरी, यशोदा, चन्द्रभागा, ललिता, एवं राधाकुंड के साथ अड़ींग के पास मुखर गोप कुलदेवी मुखराई, गिरिराज शिला पर मनसादेवी, केदारनाथ शिव के अतिरिक्त गौरीमाया, कामवन में विमला, पशुमती शीतला, मनसा, वृन्दा, पथवारी, शीतला, गोमती, बरसाने में श्री जी, नौवारी चौवारी देवी, सांचौली में सांचौली देवी, संकेत में यन्त्रशिला एवं संकेत देवी, सेईगांव में सांवरी देवी, लोहवन में आनन्दी वन्दी देवी, मथुरा में कैला, गायत्री, मथुरा देवी, एवं माथुर सामवेदियों की कुलदेवी चर्चिकापीठ आदि। इनमें से मथुरा की महाविद्या और बरसाने की श्री जी का मंदिर कला और स्थापत्य की दृष्टि से विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

मंदिरों के प्रसंग में हम ब्रज के चार प्राचीन मंदिरों का उल्लेख न करें तो यह क्रम अधूरा ही रह जाएगा। भगवान श्री कृष्ण के इन मंदिरों में मथुरा के केशवदेव, वृन्दावन के गोविन्द देव, गोवर्धन के हरिदेव, और दाऊजी के बलदेव मंदिर अत्यंत प्राचीन हैं। कहा जाता है कि श्री कृष्ण के पौत्र प्रद्युम्न ने मथुरा की कुब्जा की देखरेख में कुछ कृष्णमूर्तियों का निर्माण कराया था। वे इन मंदिरों में थीं या कहीं और ? कहां रहीं और कहां गईं इसका कोई पता नहीं चलता।

मूर्तिकला की तरह ही ब्रज की चित्रकला भी भारत विश्रुत रही है। इसकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। ब्रजभाषा के कुरेदना, चिथेरना, चितेरना, भीतना, काढ़ना आदि शब्द ब्रज की समृद्ध लोक चित्रकला को ही उजागर करते हैं। ब्रज में चित्रकला के दो प्रकार पाए जाते हैं—एक उकेरण (खोदकर), दूसरे चित्रण ! उकेरण कला ब्रज के मंदिरों में मूर्तियों, बेलबूटों और अलंकरणों में मिलती हैं। दूसरी शैली चित्रण—भित्ति चित्रण, भूचित्रण, वस्त्र चित्रण, फ़लक कागजादि चित्रण के रूप में प्रयुक्त हुई है। ये सभी कलाएं यहां से विकसित होकर बाहर

देश-देशान्तरों में गईं।

ब्रज की चित्रकला ही मथुरा, वृन्दावन होती हुई कांकरोली और नाथद्वारा पहुंची हैं। छोटे-छोटे चित्र तो सभी चित्रकार बना लेते हैं लेकिन ब्रज की चित्रकला में पिछवाई (सिंहासन के पीछे वाला चित्रांकित परदा) विशेष महत्व रखता है। ये पिछवाइयां ऋतुओं, उत्सवों का वातावरण उपस्थित करने के लिए टांगी जाती हैं। इनमें केवल रंगों का ही नहीं, विविध मणि-मुक्ताओं का भी प्रयोग होता है। जहां-जहां वल्लभकुल के मंदिर हैं, वहां-वहां ब्रज की पिछवाइयां भी शोभायमान हैं।

चित्रकला का दूसरा अद्भुत प्रयोग ब्रज में सांझियों के रूप में हुआ है। यह सूखे रंगों से भूमि पर बनायी जाती हैं। इसमें राधाकृष्ण की लीलाओं के विविध दृश्य, यमुना पुलिन, गिरि गोवर्धन, लता-कुंज, गाय-मोर, गोपी-ग्वाल सहित प्राकृतिक छटा का ऐसा सुन्दर रंग-संयोजन होता है कि देखते ही बनता है। ब्रज में फूलडोलों के अवसर पर कभी-कभी और क्वार के महीने में प्रायः यह सांझियां बनायी जाती हैं।

ब्रज के फूल बंगले भी स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला की महान् परम्परा से ही विकसित हुए हैं। फूलों के महल, फूलों की कुंजें, फूलों के बंगले, दरी, तिदरी, चौबारे और बारहदरियां, हिन्डोरे, पालने और राधाकृष्ण के नख से लेकर शिख तक के पुष्पाभरण ब्रज के कला वैभव की अनुपम निधियां हैं।

तीन लोक से न्यारी मथुरापुरी को देखिए। ऐसी लगती है मानो यमुना के तट पर कोई सुन्दर और बृहद नौका आकर ठहर गयी हो। वृन्दावन की गलियों और मंदिरों को देखिए तो ऐसा लगता है जैसे रूप-रस और माधुर्य बरस रहा हो। स्थापत्य, शिल्प सौन्दर्य और ललित कलाओं ने मानो वृन्दावन को नन्दनवन बना दिया हो। संगीत-नृत्य, रासलीलाएं और निरन्तर भक्तिसुधा के वर्षण को प्राप्त करके मानों आज भी मीरा गा रही हो 'सखि म्हाणे लागे वृन्दावन नीको।' आगरा के लाल किले को देखिए। जोधाबाई के महलों में जाइए। मोती मस्जिद, दरबारे आम और खास आदि को देखकर लगता है जैसे सम्राट अभी-अभी उठकर यहीं कहीं गए हों। सिकन्दरे में बनी अकबर की समाधि तो मानो आज भी अकबर की महानता की कहानी कह रही है। फतहपुर सीकरी जाइए तो वहां कला-कौशल की बुलंदी का सूचक बुलंद दरवाजा ही दर्शनीय नहीं है यहां मुगल सम्राट की दूरदर्शी धार्मिक बुलंदी के दर्शन भी आपको मिलेंगे। ताजमहल का तो कहना ही क्या! इसका एक-एक मरमरी अंग मानों ब्रज सौन्दर्य का ही ललित प्रत्यंग हों। कैसे थे ब्रज के कलाकार और कारीगर कि पत्थरों में भी प्राण फूंक देते थे। एक-एक जाली और झरोखा और उनकी नक्काशी, मानों एक-एक कलाकार की कुशल कलाप्रियता की कहानी स्वयं कह रही हो। यह कला सौष्ठव कुछ दशा-

ब्दियों-शताब्दियों की करामात नहीं है। यह युग-युग से चली आती ब्रज की कला-चेतना का ही अमर प्रतिबिम्ब है जो केवल ब्रज का नहीं, भारत का नहीं, विश्व-मानवता का, उसकी कला-प्रियता का, उसके भक्ति, प्रेम और समर्पण का तथा अमरता का ही दिव्य उपाख्यान है।

अब आइए, ब्रज की चहुंमुखी देन की चर्चा करें—

ब्रज ने रस दिया, रास दिया, रसिया दिए। लोकमंच के लिए स्वांग और नौटंकी भी दीं। संगीत में ध्रुपद दिए, धमार दिए, मल्हार दी और काफी मात्रा में काफी (राग) भी दिया। शास्त्रीय संगीत को ठाठ ही नहीं अमृत बोल भी प्रदान किए। लोक के लिए ख्याल-गायकी दी। कलगी दी, तुर्रा दिया। लावनी दी, चौबोले दिए और दी बहरेतबील। कवियों के प्रशिक्षण के लिए पिंगल ही नहीं समस्यापूर्ति और पढ़ंत भी दी। ब्रज ने कीर्तन और भजन ही नहीं आल्हा, ढोला, जिकरी के साथ-साथ चंग, मृदंग, उपंग, मुंहचंग, ढप-ढोल, झांझ, मंजीरे, किनकिनी आदि विविध तालवाद्यों के साथ त्रिभुवन मन-मोहिनी मुरलिया भी दी।

रमणरेती भी दी। वंशी-वट भी दिया। पनघट दिया। घूंघट दिया। संकरी गलियां दीं। जोरी दी, बरजोरी दी और होरी दी। तमाल, कदम्ब और करील की कुंजें भी दीं। भारत के लिए राष्ट्रीय पक्षी मयूर भी दिया। वही मयूर जिसके चित्रित पंख का मुकुट बनाकर कन्हैया ने अपने शीश पर धारण किया था।

ब्रज ने मायावाद अथवा मिथ्याज्ञानवाद के स्थान पर जनमनरंजनी भक्ति दी। प्रियाप्रीतम की अनुरक्ति दी। रीतिकालीन रूपासक्ति दी। प्रभु के सेवन और पूजन के षोड्षोपचार दिए। अष्टयाम दिए। नख-शिख दिया। अलंकार दिए। पद दिए। कवित्त और सवैये दिए। साखी और सोरठे दिए। छन्द और प्रबन्ध दिए और दी नृत्य तथा संगीतमयी भोग और राग से युक्त यथार्थ में रमी हुई और आदर्शोन्मुखी सरस संस्कृति।

ब्रज की यह देन केवल प्राचीन काल तक ही सीमित नहीं रही। मराठों के सहयोग से ब्रज ने नयी मथुरा दी। निम्बार्काचार्य और चैतन्य महाप्रभु की कृपा से भारत को नया वृन्दावन प्राप्त हुआ। जगतसेठ लक्ष्मीचन्द्र के वैभव से मथुरा को राजाधिराज द्वारकाधीश और वृन्दावन में दाक्षिणार्थ शैली का विशाल रंगनाथ मंदिर प्राप्त हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुग्रह से गोकुल, गोवर्धन, परासौली, जतीपुरा, काम्बन के रूप में देशभर के कृष्ण उपासकों के लिए विविध ब्रजधाम दिए। मेवाड़ में स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर का तो कहना ही क्या है! वह भी ब्रज की देन है। भरतपुर के जाट राजाओं ने ब्रज को सुन्दरातिसुन्दर बनाने में अपना विपुल वैभव न्यौछावर कर दिया। गोवर्धन की मानसी गंगा और उनके चारों ओर बने हुए भरतपुर नरेशों के महल और छत्रियां, डीग के सावन-भादों

नाम वाले तालाब और रंग-विरंगे सहस्रों फव्वारों से युक्त वहां के महल, कला और स्थापत्य की दृष्टि से ब्रज की अनुपम देन हैं। मथुरा का शिव ताल या सौ ताल, राधाकुण्ड और गोवर्धन के बीच में बनी हुई कुसुम सरोवर तथा परासौली के चन्द्र सरोवर और उसके जलमहल को जिसने नहीं देखा उसने ब्रज ही नहीं देखा। ब्रज के तातपुर, फतेहपुर सीकरी, रूपवास और बयाना ने देश को मूर्तियों, किलों, मंदिरों हेतु लाल पत्थर दिया।

ब्रज वसुन्धरा का महत्व सर्वाधिक रूप में यही है कि इसने भगवान् श्रीकृष्ण को जन्म दिया। इस ब्रजभूमि ने राधा-कृष्ण और बलराम ही नहीं दिए, वरन् यह वसुन्धरा उनकी दिव्यलीलाभूमि भी है। इन लीलाओं ने कवियों और महात्माओं को छन्द दिए। रसिकों को पारलौकिक सुख दिया और बाद के कवियों को ऐहिक रसानुभूति भी प्रदान की।

ब्रज ने श्रीमद्भागवत दी, गीता दी और दिया विश्व का सबसे वृहद् ज्ञान-विज्ञान वारिधि जयकाव्य—महाभारत। पण्डितराज जगन्नाथ को काव्य-सिद्धि भी ब्रज में ही प्राप्त हुई। बिहारी, रसखान, घनानन्द, ग्वाल, उरदाम, नवनीत और ब्रज-कोकिल सत्यनारायण की काव्यभूमि भी ब्रज ही है।

आधुनिक ब्रज के संदर्भ में देखिए। मथुरा ने विश्व को कर्जन म्यूजियम, (मथुरा संग्रहालय) श्रीकृष्ण जन्मभूमि के विशाल भवन, द्वारकाधीश और गीता-मंदिर ही नहीं दिये, रसनातृप्ति के लिए खुरचन पेड़े, बर्फी, कचौड़ी, जलेबी भी दी। महावन के निकट दाऊजी में बलदेव मंदिर ही नहीं दिया, माखन मिश्री भी दी। आगरा ने ताजमहल और सिकन्दरा ही नहीं, दालमोठ और पेठा भी दिया। हाथरस ने पुराना किला ही नहीं, चाकू के साथ-साथ दही-बूरा, गजक और घी भी दिया। अलीगढ़ ने अचल ताल ही नहीं, ताले भी दिए। सिकन्दरा ने उर्दू शायर ही नहीं, तिल के कुरकुरे कड़ाके भी दिए। खुर्जा ने घी के साथ-साथ चीनी मिट्टी के प्याले-बरतन और खिलौने भी दिए। गाजियाबाद ने उद्योगों के साथ-साथ बर्फ़ी, कलाकन्द भी दिया। वृन्दावन ने गोविन्ददेव, रंगजी, बांकेबिहारी, शाहजी का मंदिर, कांच का मंदिर, निधिवन और एक से एक बढ़कर घाट ही नहीं दिए, कंठीमाला, गोमुखी और वृन्दावनी दुपट्टों के साथ-साथ छैने के राजभोग, रसगुल्ले और मलाई की कुल्हइयां भी दीं। भरतपुर ने लोहागढ़ के नाम से विख्यात किला और 'सुजान गंगा' नहर और महलमंदिर ही नहीं, रबड़ी और गजक भी दी। बयाने ने ऊखा मंदिर, ऐतिहासिक किला ही नहीं, मलाई के लड्डू भी दिए। करौली ने कैलामाता का मंदिर और बड़ी-बड़ी हवेलियों के साथ-साथ रबड़ी की जो देन दी है उसकी रसानुभूति को वास्तव में अतृप्त भोक्ता ही अनुभव कर सकता है।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। मैनपुरी आइए। काष्ठ की चरणपादुकाओं के

साथ-साथ वहां की बनी भारत प्रसिद्ध तम्बाकू भी खाइए। इटावा आइए, टिकसी मंदिर पर चढ़ते-चढ़ते थक गए हों तो यहां की देश प्रसिद्ध रबड़ी-पूरी और सोहन पपड़ी खाइए। फिरोजाबाद चलिए। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से मिलिए और चूड़ियां पहनिए।

इस ब्रज ने जहां एक ओर ध्रुपद धमार के अमर गायक चन्दन चतुर्वेदी को जन्म दिया है वहां गामा, उसके भाई तथा पट्ठों को ललकारने वाले चन्द्रसेन पहलवान को भी जन्म दिया है। बात कुश्ती की चली तो जान लीजिए कि कुश्ती कला के तीन प्रकार जुश्ती, मुश्ती और कुश्ती ही ब्रज ने नहीं दिए, मल्लों को खाने के लिए मलाई, मालपूए और मोहनभोग भी दिए और कहा कि पहलवान बनना है तो मालिश को अपनाओ। साहित्य, पत्रकारिता और राजनीति के धुरन्धर श्री कृष्णदत्त पालीवाल भी ब्रज की ही देन हैं। देश-देशान्तर में क्रांति का बिगुल बजाने वाले राज़ा महेन्द्र प्रताप को जन्म देने का श्रेय भी ब्रजभूमि को ही प्राप्त है। नए आगरे के निर्माता श्री देवकीनंदन विभव को हम इस अवसर पर कैसे भूल सकते हैं। निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभ जैसे आचार्यों को ब्रजभूमि ने ही महाप्रभु के पद पर प्रतिष्ठित किया है। परन्तु आज ब्रज की जैसी ख़स्ता हालत है, इस पर विचार करते ही मन सिहरने लगता है। अध्यात्म, साहित्य, स्थापत्य और कला से धनी यह प्रदेश 'अब रह गयी करील की अपतु कटीली डार।'

ब्रज का सांस्कृतिक वैभव

ब्रज के रासधारी लीला के प्रारंभ में ब्रज-भावना और रास का वातावरण बनाने के लिए सरस कंठ से एक दोहा अवश्य गाया करते हैं—

ब्रज समुद्र, मथुरा कमल, वृन्दावन मकरंद।
ब्रज-बनिता सब पुष्प हैं, मधुकर गोकुलचंद ॥

प्राचीन शब्द-कोशों में 'संस्कृति' शब्द प्रायः नहीं मिलता। संस्कृति के अर्थ को प्रकाशित करने वाले दो शब्द इनमें पाये जाते हैं—संस्कार और संस्कृत। इनमें संस्कृति के अर्थ को प्रगट करने वाले बनाव-शृंगार या किसी अनगढ़ खुरदरी वस्तु की पालिश अथवा संस्कार ही ऐसे हैं, जो अंग्रेजी के शब्द 'कल्चर' की सार्थकता को द्योतित करते हैं। पश्चिमी देशों की 'कल्चर' ऐसी हो सकती है। भारतीय संस्कृति, विशेषकर ब्रज की संस्कृति के विषय में संस्कृति की विदेशी व्याख्या मान्य नहीं हो सकती। किसी देश की या क्षेत्र की संस्कृति वहां के आचार-व्यवहार, कला-संगीत, मूर्त्ति-स्थापत्य एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक विश्वासों पर ही आधारित होती है। इसे नागरिक समीक्षकों द्वारा निरूपित या यों कहें कि आरोपित संस्कारों से नहीं जाना जा सकता। इसकी सच्ची पहचान यहां की लोक-वार्ताओं, लोकगीतों और लोक विश्वासों से ही की जा सकती है। 'ब्रज समुद्र' वाला ऊपर लिखा गया दोहा हमारी समस्त ब्रज की सही संस्कृति का सटीक उदाहरण है।

ब्रज की संस्कृति समुद्र के समान है। अनेक विचारधाराओं वाली पुण्यतोया

नदियां इसमें आकर अपने को विसर्जित करती हैं। उसके गर्भ में अनंत रत्न-राशि छिपी हुई है। दोहाकार ने समुद्र में पाये जाने वाले खारेपन और भयानक जीव-जन्तुओं को छोड़कर इसमें मथुरा-रूपी कमल के दर्शन किये हैं। इस कमल के मकरंद से वृन्दावन महक रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रज की संस्कृति कमल-स्वरूपा है, जिसकी सुवास दूर-दूर तक फैली हुई है। ब्रज की नारियां अर्थात् गोपियां इस रस-सागर के खिले हुए पुष्पों के समान हैं। ब्रज के नायक श्रीकृष्ण स्वयं मधुकर हैं, जो कली-कली, फूल-फूल और मथुरा-कमल पर मंडराते रहते हैं। सौन्दर्य-बोध का ऐसा पुष्पित, सुवासित, नैसर्गिक और सांस्कृतिक चित्रण ही ब्रज-संस्कृति का पूर्ण बिम्ब माना जा सकता है। इसमें लोक भी है, कला भी है, रस भी है और आध्यात्म भी। ब्रज-संस्कृति के भव्य सौध के यही चार आधार-स्तम्भ हैं। इसी के गर्भ-मन्दिर में लीला-ललित ललाम राधाकृष्ण की युगल छवि विराजमान है। इनके दर्शनों के लिए युगों-युगों से सारा देश उमड़ता रहा है और अब तो लाड़ली लाल की यह लीला अपनी विमल ब्रज भावना के साथ यूरोप और अमरीका के भौतिकवाद से पीड़ित जन-मानस को भी जगह-जगह पर आन्दोलित करने लगी है। वृन्दावन की भांति इंग्लैंड, न्यूयार्क और वाशिंगटन में भी काष्ठ की खड़ाऊं पहने पीताम्बर और तुलसी की माला धारण किए तिलक-धारी गौरांग, वैष्णवों के मुख से भी 'राधे-राधे, कृष्ण-कृष्ण' के स्वर सड़कों पर गूंजते हुए सुने जा सकते हैं।

क्या है यह ब्रज की संस्कृति? ऐसी क्या विशेषता है इसमें? क्या भारत की मूल संस्कृति से यह कोई भिन्न वस्तु है? इसका लिखित साक्ष्य प्राप्त करने के लिए हमें विदेशी विद्वान् टेलर, फ्रेजर, गाम्मे से अधिक श्रीमद्‌भागवत के दशम् स्कंध का बार-बार पाठ करना पड़ेगा। सूरसागर में निरन्तर गोते लगाने पड़ेंगे। नंददास, परमानंददास आदि अष्ट सखाओं के गीत गुनगुनाने होंगे। वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु द्वारा निरूपित सिद्धान्त और सेवा-पद्धति जाननी होगी तथा इन सम्प्रदायों के मंदिरों की झांकियों के अहर्निश दर्शन करने होंगे। उपासना और सेवा की विधियों को समझना पड़ेगा। संस्कृति के मोटे-मोटे देशी-विदेशी ग्रन्थों से ब्रज की संस्कृति नहीं जानी जा सकती। उसे जानने के लिए ब्रज के लोक-मानस को समझना पड़ेगा। मथुरा-वृन्दावन के हिंडोले, नंदगांव-बरसाने की होली, गोवर्धन की सप्तकोसी परिक्रमा में नाचते-गाते नर-नारियों के दर्शन करने होंगे। बिना ब्रज के फूल-डोलों, सांझियों, जिकरियों, ढोलों, आल्हा, चरकला, डंडेशाही, पढ़न्त, कबड्डी, चील झपट्टा, आंख मिचौनी, कुश्ती-दंगल और खयालबाजी रसियों और मल्हारों और धमारों के देखे-सुने ब्रज की संस्कृति का तत्त्व हाथ नहीं लग सकता। नाचता-गाता, खेलता-कूदता, अपनी निर्धनता में भी साम्राज्यों को तिरस्कृत करता निराकार ब्रह्म के पाखण्ड को, ज्ञानियों के अहंकार को चूर-चूर

कर देने वाला ब्रज और उसकी सौन्दर्यबोधिनी दिव्य संस्कृति साहित्य से अधिक लोक में बिखरी हुई है। सुनने से अधिक वह देखने की वस्तु है। उसका आस्वाद नैनों के माध्यम से ही किया जा सकता है। सगुण साकार का उपासक ब्रज दर्शन की वस्तु है। उसका दर्शन (शास्त्र) भी रमणीय है। उसके नायक, नायिका अर्थात् आराध्य राधा-कृष्ण और उनकी गाथाओं का आधार भी रमणीयता ही है। जैसे साहित्य में 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः वाक्यं' को काव्य कहा गया है, वैसे ही भारत की रमणीय (राधा-रमणीय) संस्कृति को ब्रज-संस्कृति कहना चाहिए।

ब्रज की संस्कृति में दो वस्तुओं की प्रधानता है—भोग तथा राग। चाहे ब्रज का लोक जीवन हो या ब्रज के देवता का कोई छोटे से लेकर बड़े-से-बड़ा मंदिर, वहां आपको भोग और राग की ही प्रधानता मिलेगी। ठाकुर जी की मंगला (मंगल-जागरण) में माखन-मिश्री का भोग आता है। ग्वाल और शृंगार के समय की भोग व्यवस्था में कहीं दूध-मलाई की लोटी है, तो कहीं ठौर-मठरी और मोदक की व्यवस्था। राज-भोग तो राज-भोग है ही। ठाकुर जी जब सोकर उठते हैं तो उठते ही उन्हें कुछ चाहिए। संध्या को जब वन-चारण करके लौटते हैं तो भूख का लग आना स्वाभाविक ही है। शयन से पहले तो जमकर भोग लगना ही चाहिए। रात को बाल-कृष्ण या प्रिया-प्रीतम की नींद फिर खुल जाय तो फिर कुछ खाने-पीने को चाहिए न, इसलिए शयन के समय में भी एक पिटारे में कुछ मिष्ठान्न और झारी में जल तथा पान के बीड़े रख दिए जाते हैं। भोग शब्द का अर्थ केवल भोजन तक सीमित नहीं है। उसमें वस्त्राभूषण भी हैं, इत्र-चंदन और पुष्प-हार भी हैं। गर्मियों में खस की टट्टियां भी हैं। फूलों के बंगले भी हैं। पावस में झूले और घटाएं भी हैं। शीत में गादी-गदेले और मीठी-मीठी हलकी लौ के साथ जलने वाली अंगीठियां भी। ये सब भोग राग-रागिनियों के साथ आरोगे जाते हैं। कीर्त्तन के ये पद ब्रज-साहित्य की अनूठी निधि हैं। भारत के संगीत को भी ब्रज-संस्कृति ने अनुपम रागात्मकता प्रदान की है। ब्रज के मंदिरों में आज भी सुरक्षित वस्त्राभूषण, भोग-राग की विधियां, शृंगार और झांकियों के उपादान, इनमें प्रयुक्त होनेवाले सार-फांसे, पालने-हिंडोले, फूल-बंगले के उपयोग में आने वाले, छतरी-गुम्बज, मेहराबें और बारहदरियां तथा विविध रंगों से बनने वाली सांझियों के खाके और खिलौने ब्रज संस्कृति के जीवन्त नमूने हैं।

भगवान की संस्कृति वही होती है जो भक्तों की। पुजारी अपनी विधि से ही पूजा करता है। चित्र कलाकार की भावना का ही मूर्त्त रूप है। इसी प्रकार ब्रज के मंदिरों में पाई जाने वाली यह सांस्कृतिक विरासत कहीं बाहर से नहीं आई वरन् ब्रजवासियों के अपने मन-मानस की ही उद्‌भूत भावनात्मक लहर है। एक विशेष बात यहां उल्लेखनीय है कि ब्रज की संस्कृति राजाओं की या महलों की संस्कृति नहीं है। वह राजाधिराज, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' अर्थात् आनंद कंद

'कृष्णस्य भगवान् स्वयं' की लीलामय सौंदर्यबोधिनी संस्कृति है। भगवान् कृष्ण नृशंस राजाओं का दमन करने वाले तो थे, लेकिन सुलभ होने पर भी कभी राजा नहीं बने। कंस को मारकर मथुरा का राज उग्रसेन को ही दिया। द्वारिकापुरी बसाकर वहां राजतंत्र नहीं, गणतंत्र की स्थापना की। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और बाद में महाभारत में अपनी मंत्रणा और पुरुषार्थ से भारत के दुर्दमनीय राजाओं को पाण्डवों से पराजित कराकर भी ब्राह्मणों के चरण धोने वाले और अर्जुन का रथ हांकने वाले ही रहे, स्वयं राजा नहीं बने। लोक में परम आसक्ति व्यक्त करने पर भी वह योगिराज ही कहलाए। ब्रज के सर्वस्व बनकर भी वह वापस ब्रज नहीं लौटे। मथुरा को त्यागकर उसकी ओर पलटकर नहीं देखा। पाण्डवों को दिल्ली दिलाकर वह दिल्ली को भी भूल गए। जब उनके यादव अपनी यादवी पर उतर आए, तो वह अलग एक पेड़ की छांह में जा बैठे। अनासक्ति का ऐसा उदाहरण ब्रज संस्कृति में ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं। यह ब्रज-संस्कृति की ही एक विशेषता है कि वह हमेशा राज, मद और पद से दूर रहती आयी है।

इस वृत्ति के कारण जहां वह अभाव में भी आत्मानंदी रही है, वहां युग-युग से राजनीति ने उसे तिरस्कृत, अपमानित और दलित ही किया है। दिल्ली और आगरा की राजधानी के बीच में बसा हुआ ब्रज-प्रदेश शकों, हूणों, ईरानियों, मुगलों और अंग्रेजों द्वारा ही नहीं, स्वशासन के पिछले तैंतीस वर्षों में भी दलन और उपेक्षा का ही शिकार रहा है। ब्रज आज भी अभाव-ग्रस्त है। अशिक्षा के अंधकार में डूबा हुआ है। उसकी भाषा, उसका साहित्य, उसकी संस्कृति दिन-पर-दिन नष्ट होती जा रही है। वृन्दावन के मंदिर और सुरम्य घाट, मथुरा की ललित कलाएं और मल्ल-विद्या, ब्रज के वन-उपवन, ताल-सरोवर, महल-मंदिर, सब पूर्णतः उपेक्षित हैं। जब यमुना मथुरा के घाटों से हट जाती है तो मधुपुरी भी नीरस हो जाती है। कला और संस्कृति की बात कौन करे। अभी तक तो यहां बिजली और पानी की व्यवस्था भी ठीक नहीं हुई है। रोजगार का रोना तो सभी जगह का है, लेकिन ब्रज का हाल तो यह है कि बिना धंधे पानी के अधिकांश ब्रज-वासी या तो भिखारी हैं अथवा लुटेरे। हमारे कथन की सत्यता को जानने के लिए आप चाहें तो उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल विख्यात विधि-शास्त्री और गुजराती के मूर्धन्य साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुनशी के ग्रंथों से उसके प्रमाण प्राप्त कर सकते हैं।

समय की इन विसंगतियों और विरोधाभासों में ब्रज की संस्कृति अभी भी अपने को कायम रखे हुए है। वह बड़े शहरों और कस्बों के पढ़े-लिखे सभ्यों के कारण नहीं, वरन् ब्रज-जनपद में बसे हुए सहस्रों गांवों के सूधरे (सीधे-सादे) लोगों के कारण आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। इन्हीं को देखकर कवि ने कहा है—

'ब्रज के सहज सूधरे लोग,
गारी दै दै मिलें परस्पर,
हृदय न हरष वियोग'

यह हर्ष और वियोग हृदय में न पालने वाली संस्कृति ही गीता की गायक बन सकती है। यहां की गाली भी मधुर है, क्योंकि उसके मूल में घृणा या कटुता न होकर रस ही होता है। इसीलिए किसी ने कहा है—'देखी स्याम मधुपुरी तिहारी। बोलन्त हेला, बचनन्त गारी।' ब्रजवासी जब बोलते हैं तो ऐसा लगता है कि किसी को पुकार रहे हैं। जब उनके वचन फुरते हैं तो ऐसा लगता है जैसे गालियां निकल रही हैं। यह मित्र-वर्ग तक ही सीमित नहीं है भगवान भी इसके अपवाद नहीं है। कृष्ण की भक्ति यहां सखा-रूप में की जाती है। सखा को सब-कुछ कहने का अधिकार है—'खेलन में को काकौ गुसैंया' ? गोपियां भी उद्धव को उपालम्भ देते हुए कहती हैं—'यह मथुरा काजर की कोठर, जे निकसे ते कारे' और 'तुम कारे सुफलक सुत कारे'। यही नहीं, ब्रज की आज की गोपियां भी अपने लोक-गीतों में कृष्ण को 'द्वै बापन बारे' कहकर याद करती हैं।

वृन्दावन के एक दूध विक्रेता को हम पच्चीस वर्षों से देख रहे हैं। आज भी वह एक कड़ाह ही दूध उबालता है और सिर्फ एक कूंड़ा दही जमाता है। हाथरस के आधे से अधिक दूकानदार ऐसे हैं, जो सवेरे नौ बजे दूकान खोलते हैं, दोपहर को दो बजे पर्दा टांगकर सो जाते हैं और शाम को पांच बजे उठकर बगीची-अखाड़े चल देते हैं। ब्रज के साधारण समाज में आज सहस्रों लोग ऐसे हैं, जो जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को भी प्राप्त करने में असमर्थ हैं, लेकिन न उन्हें किसी की चाकरी स्वीकार है और न चापलूसी। भजन करते हैं, मंदिरों की झांकियों का आनंद लेते हैं और फटेहाल रहकर भी कहते हैं 'मस्त रहते हैं फटेरों में गुजर करते हैं'। ब्रज की संस्कृति ने लोगों को अभाव में भी आनंद का जीवन जीना सिखाया है। वे वर्षों दंगलों की चरचा करते हैं, रात-रात स्वांग और भगत देखते हैं। सावन में रासलीला, क्वार में रामलीला, मार्गशीर्ष में श्रीमद्भागवत, फागुन में होली की चौपइयों और तानों में मस्त रहते हैं। ऐसे ब्रजवासी पतियों को तानें देती हुई भले ही उनकी पत्नियां ये गाती रहें कि 'घर में नाज न पानी, बजाय रह्यो हरमुनिया', लेकिन उनकी मस्ती में फर्क नहीं पड़ता।

ब्रज की संस्कृति को हम केवल क्षेत्रीय संस्कृति नहीं कह सकते। यह भारत की केन्द्रीय संस्कृति है। इसने भारत के धर्म, राजनीति, समाज और ज्ञान-विज्ञान सभी को प्रभावित किया है। ब्रज-महिमा से प्रभावित होकर अकबर ने भी एक दिन माला-तिलक धारण किए थे। इसी से प्रभावित होकर आंध्र के वल्लभाचार्य और बंगला के चैतन्य महाप्रभु ब्रज में खिंचे चले आए। मणिपुर में यहीं का रास गया है। भारत के पूर्वांचल में अब भी 'ब्रजबुलि' प्रचलित है। दक्षिण हैदराबाद

का गोवर्धन मंदिर, बंगलौर का वृन्दावन गार्डन, पुरी में जगन्नाथ मंदिर में कृष्ण-बलदेव और सुभद्रा की मूर्तियां, गुजरात की द्वारिकापुरी और हिमालय के श्रीकृष्ण और अर्जुन के नाम पर खड़े हुए नर-नारायण के उत्तुंग शृंग आज भी चतुर्दिक ब्रज-संस्कृति का जय-घोष कर रहे हैं। हमारे तिरानवे वर्षीय पिताजी कहते हैं कि सोवियत रूस के ताशकंद क्षेत्र में एक गोवर्धनधारी श्रीनाथ जी का मंदिर विद्यमान है। आज से पचास वर्ष पूर्व यहां के वैष्णव उनके दर्शन करने जाया करते थे। बाली, सुमात्रा और जावा द्वीपों में तो पग-पग पर कृष्ण-गाथाएं उकेरी हुई हैं।

भारत की संस्कृति में जो भी भक्तिमय है, संगीतमय है, चित्रमय है, कलामय है, उसमें ब्रज की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय जीवन में और संस्कृति में जहां भी सगुण, साकार, स्वरूप और सुरूप, ललित और दिव्य भाव पाये जाते हैं, निश्चय जानिये वह ब्रज-वसुंधरा की ही देन है। भारत की राजनीति में जहां भी संतई और निष्काम भाव है और अकबर जैसे सम्राटों की सीकरी की रचना में धर्म के उदात्त भाव की कल्पना है तथा कर्म के प्रति आस्था और फल के प्रति अनासक्ति का संवेग है, वह ब्रज-संस्कृति की महानता का ही परिचायक है। ब्रज की संस्कृति ने कभी राजा को मान्यता नहीं दी। वह कभी भौतिक सुखों की ओर नहीं दौड़ी। उसपर अनेक विदेशियों के आक्रमण हुए, अनेक धर्मों और संस्कृतियों ने उसे नष्ट करना चाहा, वह नष्ट नहीं हुई। इकबाल का यह शेर कि 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' भारत के साथ-साथ ब्रज-प्रदेश और ब्रज की संस्कृति पर भी पूरी तरह लागू है। रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण और गुन-आगरी-नागरी राधारानी जिसके रक्षक हों और जो ब्रजवासियों के रोम-रोम और ब्रज के कण-कण में बसे हुए हों, उसे कौन नष्ट कर सकता है। राजनीति भले ही उसे बिसार दे, लेकिन सूरदास के श्रीकृष्ण कहते हैं—'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'

●

हुरि हारे : ब्रज की रंगीली होरी

अपनी आप जानें, हमने तो ब्रज के बड़े ही आनंद लिए हैं। होगा गौलोक कहीं, अपनी धरती का आनंदलोक तो ब्रज चौरासी कोस ही है। यहां का हर माह 'मासानाम मासोत्तमे मासे' है। यहां की कोई भी तिथि खोटी या कम्बख्त नहीं होती। मेले-तमाशों का तो कहना ही क्या ? आज अखै नौमी (अक्षय नवमी) है—चलो। आज कंस का मेला है—चलो। आज रथ का मेला है—चलो। आज मुड़िया पूनौ (व्यास पूर्णिमा) है—चलो। आज हाथरस की वलदेव छट है—चलो। आज बरसाने की रंगीली होली है—चलो। आज वृंदावन में वसंती कमरा खुल रहा है—चलो। आज दुर्वासा ऋषि का मेला है—चलो। आज यहां का फूलडोल है, कल वहां का फूलडोल है—चलते ही चलो। आज यहां के हिंडोले हैं, कल वहां के हिंडोले हैं। आज यहां हरियाली घटा है, कल वहां काली घटा। चलो। चलो, देर न करो। आज कुनवाड़े का उच्छव है, कल छप्पन भोग का मनोरथ है। आज ठाकुर जी हटरी में बैठे हैं, कल फूल-बंगला में विराजेंगे, परसों जलयात्रा है, अतरसों रथयात्रा है, नरसों ठाकुर जी नाव में विराजेंगे। आज बिसरांतवालों की नौटंकी है, कल लाल दरवाजेवालों का स्वांग है, परसों वृन्दावन में भगत होगी—चलो भई, जल्दी करो। गोवर्धन में रसिया हो रहे हैं—चलो। बरसाने में समाज बैठी है—चलो। हाथरस में कुश्तियां हो रही हैं—चलो। कहीं लड़ंत, कहीं कुदंत, कहीं गवंत, कहीं पढ़ंत और कहीं घुटंत और कहीं पिवंत। इस प्रकार अंत नहीं है ब्रज के मौज-मजों का और मेलों का। फटे हाल रह कर भी यहां लोग मस्ती में

जीते हैं। इसीलिए तो ब्रज की महिलाएं बड़े सुर में गाती हैं—

बिरज की रज हम क्यों न भये बीर?
बिरज की रज होती रामा, हरि के चरनन लगती,
उड़ि-उड़ि लागती हम सांवरे शरीर,
बंसीवारे के शरीर, मोहन प्यारे के शरीर,
बिरज की रज हम क्यों न भये बीर?

यह ब्रज की रज भक्तों के अनुसार देवों को भी दुर्लभ है, महादेवों को भी दुर्लभ है। इसलिए फाग प्रतिपदा को ब्रज में धूल खेली जाती है यानी सब ब्रजवासी इस दिन ब्रज की रज को अपने मस्तक पर धारण करते हैं और वैष्णव शास्त्रकारों ने इस दिन का नामकरण कर दिया है धूली-वंदन का त्योहार।

दो दिन की होली तो देश में सभी जगह मनायी जाती है—एक दिन जलानेवाली और दूसरे दिन खेलनेवाली। कानपुर में रंग का खेल अवश्य कई दिन होता है, लेकिन ब्रज के चौरासी कोस ऐसे हैं, जहां होली पूरे सत्तर दिन खेली जाती है। वसंत पंचमी को होली का डांडा गाड़ा जाता है और रंग-गुलाल का, नृत्य-गीत का यह आलम चैत्र मास की पूर्णिमा तक कहीं-न-कहीं, किसी न किसी रूप में चलता ही रहता है। कहीं संगीत की समाजें बैठती हैं, कहीं रसियों के दंगल जुड़ते हैं तो कहीं फूलडोल होते हैं। इनमें जगह-जगह की मंडलियां एकत्र होकर नृत्य और गीतों के प्रदर्शन करती हैं। चौपाई यहां गायी नहीं जातीं—चौपइयां यहां चलती हैं, जमती हैं। चार पहियोंवाली चार डंडों की हाथ से खींची जानेवाली गाड़ियों पर बड़े-बड़े नक्कारे रख कर लोग एक मैदान में एकत्र होते हैं। प्रौढ़ और वृद्ध पुरुष नक्कारे, ढप, झांझ, मंजीरे बजाते हैं और गाते हैं—

जुग-जुग जिओ मेरी नाचनहारी
नाचनहारी कें दो-दो हूजों···
मुकदम और पटवारी
जुग-जुग जिओ मेरी नाचनहारी

इनकी ताल पर कभी अकेली गोपियां और कभी—'द्वै द्वै गोपी बिच बिच माधव'—नृत्य करने लगते हैं और कभी कोई स्त्री किसी पुरुष का हाथ खींचकर या कभी कोई पुरुष किसी स्त्री का पल्लू पकड़ कर उन्हें जोड़ों में नाचने के लिए बरबस खींच लेता है, तब जो समा बंधता है उसके सामने आज के फिल्मी युगल नृत्य और पश्चिमी तर्ज के 'बाल डांस' बिलकुल फीके लगने लगते हैं।

शहरों की चौपई का रूप दूसरा है। यहां नये-नये लोकगीत कहे जाते हैं, हफ्तों रात-रात भर उनकी तालीमें होती हैं और होली पर धुलहड़ी के दिन इन चौपइयों के अपने-अपने क्षेत्रों में सामूहिक प्रदर्शन किये जाते हैं। महिलाओं द्वारा कोड़े बटे जाते हैं। डंडों को तेल पिलाया जाता है। पुरुष अपनी ढालों, बारहसिंघों

की मरम्मत करते हैं। सिर के ऊपर तवे बांध कर ऊपर से साफे लपेटते हैं कि गोपियों के मस्तक-भंजन से अपने को बचा सकें। बड़ी-बूढ़ियां हफ़्तों पहले अपने नाती-पोतों के लिए गोबर की ढालें और गूलरियां बनाने लगती हैं। लकड़ी की तलवारें भी बनायी जाती हैं और होली के लिए घर-घर में पकवान बनने लगते हैं। इनमें प्रमुख हैं सैंलडू (सेव के लड्डू) गूंझे और नमकीन पपड़ियां। हफ़्तों पहले से भांग बीनी, भिगोयी और भूंजी जाती है। निठल्ले रसियों को रसिकाएं ताना देती हैं—

घर में भुंजी भांग नाय,
कठौती में चून नाय,
पैसा-धेला पास नाय,
गोझा हिलावें
नजरियों से मार-मार हमको रिझावें।

शायद नयी कविता का आरंभ ऐसे ही पद्यों से हुआ होगा। आजकल के हास्यरस के कवि अपने-आपको बड़ा तीसमार खां समझते हैं, लेकिन ब्रज के हास्यरस के लोकगीतों और तानों के मुकाबले इनका करतब पासंग के बराबर भी नहीं है। दूसरों पर तो फबतियां सभी कस लेते हैं, परंतु अपने पर, अपने समाज पर मीठी चुटकियां लेने का साहस ब्रजवासियों में ही है। मथुरा के पंडा समाज की एक तान बाअदब पेश करता हूं—

होली पै नाय आयौ बड़ौ नादान
जब ते गयौ कोई परचा न आयौ
आइबे की चरचा, न खरचा पठायो
जाने कौन देस रह्यौ छान
होरी पै नाय आयौ बड़ौ नादान
मैं वाकौ जानूं पुरानौ ठिकानौ
करनौ परैगौ लिफाफौ रवानौ
वाके भलई हंसौ जिजमान
होरी पै नाय आयौ बड़ौ नादान।

विषयवस्तु की दृष्टि से भी ये तानें निराली होती हैं। निराला जी ने 'कुकुरमुत्ता' लिखा है। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी उर्फ विनोद शर्मा ने 'करेला-लोचनी' का चुहचुहाता वर्णन किया है, लेकिन मथुरा के बुधौआ (बुद्धिमान) चतुर्वेदियों ने अपनी एक प्रसिद्ध तान में शाक-भाजियों का जो मजा लिया है, उससे आप वंचित क्यों रहें? अर्ज है—

पंच जिमीकंद सभा कौ बनाये देउ
सब सागन के दसखत कराय लेउ

आलू रतालू करें ठट्ठा, गुय्यन सों नाहक लड़ें गट्ठा
ये रूठौ बंडा मनाय लेउ ।। पंच जिमीकंद...
सेम भिंडी मटर सौं कहै कौला, करुओ करेला करै रौला
कचनारिन को वेग ही बुलाय लेउ ।। पंच जिमीकंद...
ये दीखत के टिंडे बड़े गुंडे, और तासीर के बड़े ठंडे
इनको घीया सें जिया मिलाय देउ ।। पंच जिमीकंद...
कुलफा चौरई हे रहते मगन सोया, क्या मीठे कठर के लगें कोया
पोदीना धनिये की चटनी घुटाय देउ । पंच जिमीकंद...
सकरकंदी सो चूरा रहे गोभी, कहै सेंगरी ये सेंगर बड़ौ लोभी
सूम बथुआ कौ रायतो घुराय देउ ।। पंच जिमीकंद...
ये सुनकें सभा में धंसे हैं भटा, इन बातन में काहू दिन चलिहै लठा
'चंद' याके तन की तो खुजरी मिटाय देउ ।। पंच जिमीकंद...

कहिए तो लगे हाथ अपने कवि-जीवन की प्रारंभिक मस्ती का एक संस्मरण होली के बहाने आपको सुना डालूं। मैंने मथुरा की होली के बड़े मजे लिये हैं। वहां की चौपइयों में मैंने गाया भी है, बजाया भी है, नाचा भी है और कूदा भी है। मेरी लिखी तबकी कुछ तानें आज भी मथुरा की मंडलियों में प्रचलित हैं, लेकिन उनका जिक्र यहां नहीं करूंगा। इस समय तो मुझे मथुरा के एक प्रसिद्ध अखाड़े मोहन बाग की चरचा करनी है। मथुरा में हर मुहल्ले और हर बगीची-अखाड़े की एक होली-मंडली है। इनमें मोहन बाग का बड़ा नाम है। चतुर्वेदी-समाज की यह सबसे बड़ी संगीत-नृत्य-मंडली है। इसमें ब्रज के प्रमुख संगीतज्ञ वादक और नृत्य-शिरोमणि बड़े रस के साथ भाग लिया करते हैं। इसका आनंद लेने के लिए लोग दूर-दूर से आया करते हैं। मैंने कई वर्षों तक इस मंडली के लिए तानें कथी हैं। जैसे फिल्मों के निर्देशक गीत के मुखड़े और शेरों के टुकड़े आज के गीतकारों के सामने प्रस्तुत करके यानी तर्जें दे-देकर गीत लिखवाते हैं वैसी ही मश्क वहां के तान-लेखकों को करनी पड़ती है। जैसे फिल्मों के गीतकार से अधिक संगीत-निर्देशक और आर्केस्ट्रा का महत्व होता है वही हालत मोहन बाग अखाड़े के उस्ताद, वादक तथा नर्तकों की होती है। पहले तान उस्ताद के कान से निकलती है। वे कहते थे ऐसा नहीं, ऐसा लिखो। फिर वादक-मंडली नृत्य और ताल के तोड़ों के आधार पर शब्दों के साथ तोड़-मरोड़ करती थी। फिर नर्तक-प्रमुख अपने भाव-प्रस्तुतीकरण को दृष्टि से हेर-फेर कराया करते थे। एक-एक तान को तैयार करने में कभी-कभी तो तीन-तीन महीने लग जाते थे। फिर भी मजा यह कि नाम उस्ताद के अखाड़े का होता था, लेखक का नहीं। जबकि फिल्मों में गीतकार को पैसे कम मिलें लेकिन नाम तो उसका चलता ही है। उस समय मोहन बाग अखाड़े के उस्ताद नरसी मुंशी नामक एक वृद्ध सज्जन थे। बड़ी

बढ़िया ठुमरी गाते थे। मुझे पेड़े और खुरचन खिला-खिला कर मुझसे हर साल तान लिखवाया करते थे और उन्हें अपनी कथी हुई बता कर अखाड़े में और श्रोताओं पर अपना रंग बांधा करते थे। एक बार यह चौपई गाती-नाचती चौबों के मुहल्ले से गुजर रही थी। स्वर्गीय जवाहरलाल चतुर्वेदी अपने कोठे के छज्जे पर बैठे हुए इसका आनंद ले रहे थे। जब नर्तक-वादक-दल उनके छज्जे के नीचे आया तो उन्होंने आवाज लगायी, 'नरसी गुरु, कोई नयी चीज कथी होय तौ सुनवाओ।' मुंशी जी ने अपने पट्ठों को इशारा किया और उस वर्ष की नयी तान गायी जाने लगी। तान के बोल थे—

मानो जी मानो रसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ।
होरी न खेलौ, रोरी न रेलौ।
हौं तो तिहारी दसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ।
मानो जी मानो रसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ॥

घोड़ा चौबे हारमोनियम बजा रहे थे। प्रसिद्ध संगीतज्ञ शिवकुमार चतुर्वेदी के पास सितार था। भारत-प्रसिद्ध गायक वासुदेव चतुर्वेदी अलाप ले रहे थे और पं० केदारनाथ चतुर्वेदी सखी-भाव से चेहरे पर दुपट्टे का घूंघट ओढ़े लड़कों के साथ भाव बता-बता कर नाच रहे थे। बीसियों मजीरे और खड़तालें साथ में बज रही थीं। सजी-धजी मथुरिनें नृत्य-गीत से उत्पन्न रस-माधुरी में झूम-झूम उठती थीं। मेला जम रहा था कि तभी जवाहरलाल जी अपने छज्जे से ललकारे, "मुंशी जी! जे तान तिहारी नाय है। कौन की है, बताऔ?"

मुंशी जी पर यह आकस्मिक हमला था। आज तक किसी ने उनको ऐसी चुनौती नहीं दी थी। भरे समाज में वे ऐसा अपमान कैसे बर्दाश्त कर सकते थे। अपनी बगल में लगे हुए डंडे को फटकारते हुए उन्होंने कहा, "जवारलाल! मेला खराब न करो। तान हमारी है और हमारी है।"

जवाहरलाल भी कम दबंग नहीं थे। शरीर भी उनका पहलवानी था और आवाज भी लड्डूखानी थी। वे ललकारे, 'भइयाऔ! जे तान नरसी मुंशी की नाय है। जामें कथैया (कवि) ने अपनी छाप दै दई है।"

नीचे से आवाजें आने लगीं, "नाम बताऔ, नाम बताऔ।"

तब जवाहरलाल जी ने छज्जे पर खड़े होकर घोषित किया, "तान में जो 'दसिया' शब्द आयौ है वाही में कथैया की छाप छिपी है। जानौ हौ कि दासी-पुत्र कौन कूं कहैं हैं? वाकौ नाम व्यास है। व्यास ऋषि धींवर-कन्या दासी तै पैदा भये हैं। जे तान हमारे गुपाल व्यास की है।"

मुंशी इस सचाई से हतप्रभ हो गये। कुछ ने मुंशी जी को तो कुछ ने जवाहरलाल जी को कोसा और चौपई आगे बढ़ गयी।

आज के शहरी समाज को इस प्रकार के गाने, नाचने और लोकधुनों पर

तुकबंदी लिखने की बात हास्यास्पद लग सकती है, लेकिन मेरा तो मानना यह है कि जो गा नहीं सकता, जिसे नाचना नहीं आता, जिसने अखाड़े में कभी ताल नहीं ठोकी, जो शतरंज नहीं खेल पाता, जिसे कलियों की कसमसाहट और फूलों के खिलने का अहसास नहीं है, जिसे रत्नों की परख और इत्रों का मिजाज समझ में नहीं आता, जिस पर सुन्दरियां नहीं रीझीं और जिसके ईर्ष्यालु मित्रों की सूची लंबी नहीं है वह और कुछ हो सकता हो, प्राचीन संदर्भ में ब्रज के रसिया और आज संदर्भ में सही लेखक तो नहीं हो सकता। इसमें कुछ अपवाद भी होते हैं, जैसे मैं। ऊपर की सभी क्वालीफिकेशनों (योग्यताओं) में मैं भले ही क्लीयर पास हुआ हूं लेकिन लेखक जैसा मुझे होना चाहिए था, वैसा नहीं हूं। न सही लेखक, कलाकारी के मजे तो मैंने लिये ही हैं।

मैंने रातोरात जाग कर होली के दिनों में इटावा का नंग-नाच देखा है। बनारस में स्वर्गीय कृष्णाचार्य के साथ वहां की कई महफिलों के मजे लिये हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के साथ होली के दिन मिर्जापुर में चक छानी है। कानपुर में सनेही जी के यहां पूरी एक रात कनपुरियों के साथ होली के कवित्त-सवैये पढ़े हैं। लाहौर में प्रेमी जी और उदयशंकर भट्ट के साथ ऐसी छनी कि भट्ट जी और हम दिल्ली की गाड़ी में लगनेवाले डिब्बों में पहले से आकर सो गये और सबेरे धूप निकलने पर जाग कर देखा कि गाड़ी दिल्ली कभी की पहुंच चुकी, लेकिन हमारे डिब्बे जैसे-के-तैसे लाहौर के रेलवे यार्ड में खड़े हुए थे।

मैं बहक गया। नशा चाहे चाय का हो, काफी का हो, भांग का हो और मोरार जी के जीवन जल का, नाम न लिवाये उसका, बुरा ही होता है। लेखकों को तो खास कर यह बहुत ही चढ़ता है। अगर लेखक हिंदी का हो तो समझ लीजिए कि करेला और नीम चढ़ा। भोगे हुए यथार्थ के नाम पर कामकुंठा की बखिया उधेड़ने की सनक में जीवन की नैसर्गिक इच्छाओं को अभिव्यक्ति देने के बहाने न जाने क्या-क्या लिख डाला है और क्या कुछ चित्रित नहीं किया जा रहा आज के चितेरों और कलाकारों द्वारा। नंगी-मूर्तिकला, अधनंगी चित्रकला, साहित्य में नंगपन और इन सबके वरदान-स्वरूप स्वीडन, पश्चिम जर्मनी, लंदन, पेरिस के उद्यानों, सड़कों, थियेटरों, नाइट क्लबों और मेहमान-नवाजी के विविध-केन्द्रों और अड्डों की नकल पर क्या-क्या नहीं हो रहा हमारे यहां। लेकिन भारत ने, विशेषकर ब्रज ने, इस काम-कुंठा को जिस सामाजिकता के साथ अभिव्यक्त करके उनके विकारों से मुक्ति पायी है, उसका उदाहरण विश्व में कहीं नहीं है। तो आइए ब्रज के अंतरंग में प्रवेश करें।

बरसाने की रंगोली गली आपने देखी है? नंदगांव के होली-मैदान के भी दर्शन करने का सौभाग्य कभी प्राप्त हुआ है? यदि नहीं तो आप नंदगांव-बरसाने की रंगीली होली और वहां की अभूतपूर्व लठामार होली के वर्णनों का भरपूर

आनंद नहीं ले सकते। आपने शायद वृन्दावन में टेढ़े खंभोंवाले शाह जी का मंदिर भी नहीं देखा? हमारा अनुरोध है कि यहां के बसंती कमरे को अवश्य देखिए। लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह की दौलत, वहां का कला-शिल्प और झाड़-फानूस इसी मंदिर में सिमट आये हैं। वसंत पंचमी को यहां का वसंती कमरा खुलता है और यहीं से व्रज का होली मेला प्रारंभ होता है। आप और कुछ न देखिए लेकिन बलदेव में दाऊजी का हुरंगा अवश्य देखिए। अधिक आनंद लेना हो तो चंद्रसरोवर पर चांदनी रात में चमकती हुई होली को देख ही लें, जाव और बठैन के होली-नृत्य-गीतों में तो आप क्या जा पायेंगे, लेकिन फारेन गांव के उस दृश्य को देखना कभी न भूलें जहां का पंडा बीसियों हाथ लंबी-चौड़ी होली में से सवस्त्र गुजरता है। होली जल जाती है लेकिन इस आधुनिक प्रह्लाद का बाल भी बांका नहीं होता।

एक समय था जब मथुरा के बाजारों में दाऊजी और मदनमोहन जी होली खेलते हुए निकला करते थे। आगे-आगे ठाकुर जी का डोला और कीर्तनिया समाज, पीछे-पीछे गुलाल और अबीरों से भरी गाड़ियां। उन पर बैठे हुए गुसाईं बालक, मंदिर के मुखिया और रसिया लोग। अटा-अटारियों, कोठे-तेवारियों पर व्रज-नारियों के हुजूम-के-हुजूम। इधर से पोटलियों में भर-भर कर, ताक-ताक कर गुलालों के निशाने और उधर से रंग-भरी होली के गाने और तराने। होली के गीतों में यह जो बार-बार दुहराया जाता है कि 'उड़त गुलाल लाल भये बादर' उसे हमने मथुरा की इस होली में साक्षात चरितार्थ होते देखा है। बाजार की दुकानों के आगे गुलाल की मार से बचने के लिए परदे तान दिये जाते थे तो फिर सायबानों, छज्जों और छतों पर इतना गुलाल जम जाता था कि उसे अगली बरसात की तेज बौछारें ही मुश्किल से साफ कर पाती थीं। आज भी मथुरा क्या व्रज के सभी मंदिरों में पूरे एक महीने रंग-गुलाल बरसता है, ध्रुपद-धमार गाये जाते हैं। और चौपई तथा डंडेशःही निकलती हैं। हां मजा तो व्रज में ही है। अगर आपने इसे नहीं देखा तो इसे देखने के लिए सत्कर्मी होने पर पुनः मनुष्य-देह धारण करनी पड़ेगी। और यदि इससे विपरीत सिद्ध हुए तो फिर चौरासी लाख योनियों में करोड़ों वर्ष में जा कर इसका नंबर आयेगा।

हमारी आंखों से देखिए। होली के दिनों में किसी के पुत्रोत्सव पर महिलाएं यमुना-पूजन को जा रही हैं या किसी विवाह से दावत खा कर लौटी हैं तो रास्ते में क्या गाती चलती हैं। सुनिए—

चिड़ी तोय चामरिया भावै
तेरे घर में सुंदर नार
बलम तोय पर नारी भावै।

इस टोली के पीछे ही कोई दूसरी टोली है। उसमें प्रौढ़ा ही नहीं, किशोरियां

और युवतियां भी शामिल हैं। बड़े ललित कंठ से बोल उठाती हुई, कहती हैं—

चना के लडुआ चौं लायौ
मेरे पीहर में जलेबी रसदार।

दूसरी टोली तत्काल को इसका तुर्की-ब-तुर्की उत्तर देती है—

शहर के सोय गये हलवाई
अब तौ मुखड़ा खोल
कलाकंद लायौ हूं प्यारी

जब इन गीतों को गाती हुई महिलाएं बाजारों में से आज भी निकलती हैं तो दुकानदारों की तराजू की डंडियां थम जाती हैं, ग्राहक माल लेना भूल जाते हैं। रिक्शे और तांगे रुक जाते हैं तथा पढ़े-बे-पढ़े सभी लोग दत्तचित्त हो कर इन गीतों का आनंद लेने लगते हैं। ऐसे दृश्य मथुरा, हाथरस, अलीगढ़, भरतपुर, वृन्दावन, गोवर्धन आदि सभी जगह आये दिन देखे जा सकते हैं। गोवर्धन, नंदगांव, बरसाना, पारासौली, चंद्रसरोवर, कुसुम सरोवर और राधाकुंड की तो बात ही अलग है। वहां गोपियों का तत्काल जवाब ग्वालों की मंडलियां और ग्वालों का उत्तर ब्रज-ललनाएं बेधड़क रूप से देने में कभी नहीं हिचकतीं। उदाहरण के लिए होली के दिनों में गोवर्धन की परिक्रमा करते हुए जब ब्रज के लौठा नाचते-गाते और अपनी ही जगह पर दस-दस हाथ कूदते, यह गाते हैं—

कदम तर आय जइयो
कटीले काजर वारी
नेक मुखड़ा सुधर दिखाय जइयो
कटीले काजर वारी

तो उसी सरसता के साथ ब्रज की लौठियों से उन्हें उत्तर मिलता है। कि—

लाला, तोइयै बुलाय गयी नथवारी
वा नथवारी की ऊंची अटरिया
पंचरंग पलंग परौ है संवरिया
कर के इसारौ बताय गयी री
लाला, तोइयै बुलाय गयी नथवारी

लेकिन आज तक किसी अखबार में यह खबर पढ़ने को नहीं मिली और न किसी गली-मुहल्ले में या चौपाल-पंचायत में ही इसकी चरचा सुनी गयी है कि 'कोई नथवारी' किसी ब्रज के छैला के साथ भाग गयी हो या पकड़ी गयी हो। ब्रजवासी लोग अपने आनंद के लिए गाते हैं। उनके आनंद का आश्रय कोई पर-पुरुष या परकीया नहीं है। ब्रज में पुरुष तो एक ही है। वह है नंदनंदन श्री कृष्ण और स्वकीया अथवा परकीया भी एक ही है और वह है वृन्दावनवारी या बरसाने-वारी राधारानी। भलाई-बुराई राधा-कृष्ण के मत्थे, ब्रजवासी तो सिर्फ गाते ही

हैं और इस गाने के बहाने ही उसकी लीलाओं का स्मरण करते हैं तथा उसका बार-बार नाम लेते हैं। अभी तो सैंकड़ों वर्षों से यही क्रम चल रहा है। भगवान बचाये ब्रज को इस लिपी-पुती आधुनिक सभ्यता से।

ब्रज के लोकमानस को समझने के लिए दो शब्दों का समझना बहुत आवश्यक है। उनमें से एक शब्द है 'छैल' और दूसरा है 'रसिया'। ब्रज की होली को 'छैला' ही खेल सकते हैं और 'छैल' ही इसे समझ सकते हैं। रसिया इस अवसर पर गाये ही नहीं जाते, होली में ब्रज का हर व्यक्ति चाहे वह जवान हो या बूढ़ा, देवर हो या जेठ, रसिया बन जाता है। इसीलिए तो ब्रज के एक कवि ने गाया है— 'फागुन में जेठ कहे' भाभी'। ब्रज की चौपइयों में देवर ही भाभी के साथ नहीं नाचते, जेठ ही नहीं नाचते वरन कभी-कभी तो आनंदातिरेक में बहू के साथ ससुर भी नाचने लगते हैं। अगर फाग में कहीं काम के विकार की आग होती तो ये दृश्य कहीं संभव हो सकते थे ?

होली का उत्सव प्राचीन, अति प्राचीन मदन-महोत्सवों का ही रूपांतर है। वसंतागम पर जब ब्रज की धरती सरसों के पुष्पों से पीतांबरधारिणी बन जाती है और जब प्यारी को आशीष देने के लिए वसंत-रूपी ब्रह्मचारी गुलाब की कलियों के खड़ाऊं चटखाते हुए चलता है तो गृहीजनों की कौन कहे, मुनी-मन भी डोलने लगते हैं। कहिए तो आपको पीछे ले चलूं और वेद-पुराणों की बात बताने लगूं और कहूं कि इन मदन-महोत्सवों का विधान हमें सृष्टि के सृजन-रहस्य की ही सुधि दिलाता है तो आप चौंकियेगा नहीं। वसंत ऋतु में मधु-मक्खियां फूलों से रस-ग्रहण करतीं तो आपने देखी होंगी, परंतु ये पुष्पों के परागों को मादा पुष्पों के रज से संपर्क करा कर नवीनोत्पत्ति का कारण भी बनती हैं, शायद इसका पता आपमें से कुछ ही को हो। इतना ही क्यों शिव और पार्वती के सम्मिलन की कहानी भी दो अलग-अलग स्थानों पर खिलने वाले पुष्पों के सम्मि-लन की ही कहानी है। पंचशर कामदेव मादक वसंत की सहायता से इन दोनों का समागम कराता है और इससे कार्तिकेय-रूपी फल की प्राप्ति होती है। शिव-पार्वती के प्रतीक रूप में सृजन की कहानी घर-घर, नगर-नगर और देश-देशांतर में दोहरायी जा रही है। यही सृजन-रहस्य है, और यही वसंत-महिमा है। इसी को कुछ अज्ञानी काम-विकार कह कर झुठलाया करते हैं। लेकिन कालिका पुराण अध्याय चार में वसंत के जन्म की कथा इस प्रकार कही गयी है कि जब परमयोगी शिव सृष्टि-वर्धन के लिए तैयार नहीं हुए तो पितामह ब्रह्मा ने वैरागी शिव को सम्मोहित करने के लिए वसंत की सहायता आमंत्रित की और इस वसंत ने वैरागी भोले बाबा के मन में राग उत्पन्न कर दिये। इसीलिए वसंत का एक नाम कंदर्प-सखा भी है। परंतु इस कहानी को छोड़िए। इस कंदर्प-सखा के फूलने-फलने पर ब्रज में बूढ़े बाबा विश्वनाथ पर भी होली खेलने की उचंग सवार हो जाती है। वे

भी ब्रजललनाओं से फाग खेलने का आग्रह करते हैं, लेकिन इस औघड़नाथ के साथ कौन होली खेले। ब्रजवालायें कहती हैं—

मैं कैसे होरी खेलूं री या बाबरिया के संग।
अंग भभूत, गले विषमाला, लटन बिराजै गंग।
मैं कैसे होरी खेलूं री या बाबरिया के संग।

होली तो छैलों का त्यौहार है। छैला नंद का लाल ही नहीं उसके बड़े भाई दाऊजी भी हैं। वे भी ब्रज की छैल-संस्कृति के प्रतीक हैं। कहा गया है 'अलबेलौ छैल छकनिया ब्रज में ठाकुर दाऊदयाल', अर्थात जो अपने-आप में अलबेला नहीं है, छैला नहीं है, छकनिया यानी मधुरस छकनेवाला नहीं है, वह न तो छैला है न ब्रजरसिक है और न ब्रजवासी। ब्रज के सैकड़ों लोकगीत इस छैल-महिमा से भरे पड़े हैं। होली का तो शुभारंभ ही किसी छैल के ढप-वादन से प्रारंभ होता है—

ढप बाजौ है छैल मतवारे को
ढप की गरज मेरौ सब घर हालौ,
हालौ है खंभ तिवारे कौ
ढप की गरज मेरौ तन-मन हालौ,
झुब्वा हालौ है नारे कौ।
ढप बाजौ है छैल मतवारे कौ।

जैसे-जैसे ढप की धुन ताल पकड़ती है वैसे ही रसिया के साथ-साथ गोरी के अंग-प्रत्यंग भी लहकने लगते हैं और ये शिकायत करती हैं कि—

होरी के दिनन छैला दूनो-दूनौ मटकै
सालिगराम कौन याहि बरजै
अंग लिपट हंसि हा-हा खाय
पैयां परि जाय मेरी बलि-बलि जाय
होरी खेली न जाय

ठीक ही तो है। जब छैला नैनों ही नैनों में गारी, भर-भर के पिचकारी, 'औचक कुचन कुंकुमा' मारते हैं, रंग-सुरंग शीश पर ढारते हैं तो होली कैसे खेली जा सकती है! पानी की चोट और रंग की खोट तो सह भी ली जाये लेकिन नैनों की मार कैसे सही जा सकती है! इसीलिए उनका कहना है—

होरी में मेरे लग जायगी।
मत मारे दृगन की चोट
पहली चोट बचाय गयी रे लाला
कर घूंघट की ओट
होरी में मेरे लग जायगी।
मत मारै दृगन की चोट

पद्माकर इस चोट से भलीभांति परिचित थे, इसीलिए उन्होंने कहा था—'ए री मेरी बीर जैसे तैसे इन आंखिन तें कढ़ि गयौ अबीर पै अहीर कौ कढ़ै नहीं'—लेकिन रसियों को रसिकाओं के इस दर्द की क्या चिंता है? उन्होंने तो आज घोषणा कर दी है कि—'रसियन के पल्ले पड़ी आज नहिं सहज निकसि जायगी।'

यों तो इस राग-अनुराग-भरी होली के अनेक रंग हैं, परंतु ब्रज के छैला की छकानेवाली छवि का जो वर्णन ग्वाल कवि की दो पंक्तियों में हुआ है, उसका अनूठापन देखिए—

'ग्वालकवि' स्यामै गहि कोउक नचावै कोऊ,
कोउक छुड़ावै फैरि आवै धंसि धंसिकै।
ताने ललिता पै मूंठ डारै राधिका पै,
चढ़ि चौतरा पै देति गारी हंसि हंसिकै।

दुनिया में सभी तरह के लोग हैं। या यों कहें कि हर चीज के दो पहलू हैं। ब्रज के लोकजीवन की मस्ती को और होली के इस रंगारंग आलम को जहां कुछ जीवन की सरसता, हृदय की सुरंग हिलोर, साहित्य का सामाजिक संदर्भ और यौवन की अनूठी अठखेली मानते हैं वहां ऐसे जीवों की भी कमी नहीं जो ऐसे उल्लासपूर्ण क्षणों में भी कुरुचि, अश्लीलता और असामाजिकता के दर्शन कर लेते हैं। एक बार गुजराती साहित्य के मूर्धन्य कथाकार और उस समय उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुनशी ने मुझसे कहा था, "रंग-गुलाल से उतरकर तुम्हारे ये ब्रजवासी धूल-कीचड़, गाली-गलौज और लट्ठमारी पर क्यों उतर आए हैं?" वे तो भीड़ में ऐसा कहकर आगे बढ़ गए परंतु मैं सोचता रहा। ब्रज के गांव-गांव में आज भी औरतें होली खेलने आये मर्दों का अकसर लाठियों से स्वागत क्यों करती हैं? वे रंग फेंकने वालों पर कोड़े क्यों चलाती हैं? नंदगांव-बरसाने की तो लट्ठमार होली प्रसिद्ध है ही कि जहां बरसाने की गुसाइनें नंदगांव के छैलों की और नंदगांव की अहीरों की छोहरियां बरसाने के छैलों की लाठियों से कसकर मरम्मत करती हैं, लेकिन यह प्रथा लगभग ब्रज के सभी गांवों में फैली हुई है। मैंने इसे चंद्रसरोवर में देखा है, राधाकुंड में देखा है और मुझसे अधिक देखा है आज से एक सौ पांच वर्ष पूर्व एक अंग्रेज विद्वान श्री ग्राउस ने, जो उस समय मथुरा के जिलाधीश थे। उन्हें नंदगांव और बरसाने की कोसी के पास गोमती-कुंड की और जाव-बठैन की होलियां कृत्रिम युद्ध के समान लगीं। चाकू और छुरियों से लैस नर्तकों को जब लाठी लिये हुए नर्तकियों ने खदेड़ दिया तो उन्हें यूनान के 'एटिका' और 'एथेंस' में मनाये जानेवाले 'डायनीसिया' उत्सव की याद आ गयी और लिखा कि होली खेलनेवाली हुरिहारिनें चमकदार आभूषणों से सजी-धजी हुई, घूंघट डाले और हाथ में डंडे ले कर 'मधु-देवता' की भक्त 'वैकेंटिस'

नामक मधुबालाओं की भांति 'थिरमस' नामक डंडा लिये सुशोभित हो रही थीं। एक अन्य स्थान पर ग्राउस महोदय कहते हैं कि होली का यह उत्सव 'साटरनलिया' उत्सव की भांति मनाया जाता है। 'साटरनलिया' उत्सव प्राचीन रोम में 'सैटर्न' नामक देवता को प्रसन्न करने के लिए १७ दिसम्बर से प्रारंभ होकर एक सप्ताह पर्यंत मनाया जाता है। यह समय फसल के पक जाने और अंगूर की लताओं से शराब निकाले जाने का होता है। यह उत्सव अश्लीलताजन्य आनंद एवं उल्लास के साथ संपन्न होता है। उसमें अश्लील भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता है।

देश को विदेशी चश्मे से देखनेवाले और पश्चिम की हवा में से भारतीय संस्कृति को असभ्यता की सीमारेखा में ले आनेवाले हमारे होली के परंपरागत त्योहार को भी यूनानी संस्कृति की देन मान सकते हैं, परंतु हमारा विचार यह है कि ब्रज ने अपनी रसिकता की रक्षा सदैव अपने बाहुबल और लाठी से की है। ब्रज के हर देहाती के हाथ में आज भी आप लाठी पाइएगा। मथुरा में कार्तिक शुक्ला सप्तमी और दशमी के दिन वहां के सनौढ़िये और चौबे लाठियों का सामूहिक प्रदर्शन आज भी करते हैं। ब्रज के अहीर आज भी ब्याह-बारातों में डंडे बजाते हैं। पुरुष ही नहीं, ब्रज की लट्ठमार होलियों में गांव-गांव में नारियों का भी लाठी-प्रदर्शन होता है। इसके लिए इन महिलाओं की साल भर खिलाई-पिलाई की जाती है। स्वयं पति और देवर इन्हें लाठी चलाना सिखाते हैं। गांव-गांव में होली पर डंडे चलते हैं और इनमें स्त्रियों को अपने हाथ दिखाने का अवसर मिलता है। इस प्रथा के पीछे भारतीय परतंत्रता की काली कहानियां छिपी हुई हैं। पहले मुगलों और बाद में अंग्रेजों के जमाने में जब किसी नारी की इज्जत सुरक्षित नहीं थी और पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में आये दिन सुंदरियों के डोले छीने जाते थे एवं रूपसी बालाओं पर नजर पड़ते ही उन्हें घर से उठा लिया जाता था, तो ब्रजवासियों ने इसका सामना करने के लिए लट्ठ उठा लिए। उन्होंने नारियों को भी लाठी चलाने में निपुण कर दिया और ग्राउस साहब, जिन्हें कृत्रिम युद्ध कहते हैं, उनमें अपने बल का प्रदर्शन करके यह जता दिया कि यदि किसी ने ब्रजललनाओं की तरफ आंखें उठायीं तो उन्हें 'मार-मार लट्ठन धूर कर आये' का दिन देखना पड़ेगा। आज भी जब नंदगांव और बरसाने की होली में कोई हुरिहारिनों को छेड़ देता है, तो वे उसका कसकर हाथ पकड़ लेती हैं और कहती हैं कि 'भैया के सारे जो मैया ने दूध पियाऔ होय तो हाथ छुड़ायकै देखि लै' और यदि उस गरीब को अपनी कलाई टूटने से बचानी होती है, तो वह 'बहन जी' कहकर ही अपनी मुक्ति पाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रज में होली भी है और ठिठोली भी है। गुलाल से भरी झोली भी है और मीठी-मीठी बोली भी है। अगर शौक़ हो तो घुटी गोली भी है और केवड़े में घोली भी है। खेलनेवाली शरारतिन भी है और भोली भी

है। अकेली नहीं, उसके साथ सखियों की टोली भी है। चाहिए आप में दम। बताते हैं हम, होली है मन की उमंग। हाथ में ही नहीं, चेहरे पर ही क्यों मन में भी घुला हुआ हो टेसू का रंग। फिर बजे-न-बजे चंग, लेकिन संग रहना चाहिए अनंग, वह अनंग जिसकी पत्नी है रति, जिसकी प्रतिकृति है लज्जा और जिसके संबंध में प्रसाद जी कह गए हैं—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूं।
मैं शालीनता सिखाती हूं॥

ब्रज की : जगर-मगर दिवारी

पंडित जी कथा कह रहे थे—जैसे प्राणीन में मनुष्य देह श्रेष्ठ है, मनुष्यन की देह में मुख की सुघराई श्रेष्ठ है, मुख में बाणी कूं श्रेष्ठ मानें हैं और वाणी में जैसें बा ब्रजबानी की श्रेष्ठता मानी गई है कै 'मचल-मचल मांगी जामें हरि माखन रोटी' तैसें ही जम्मू द्वीप में भरतखंड श्रेष्ठ है, भरतखंड में सप्तपुरी श्रेष्ठ मानी गई है, सप्तपुरिन में मथुरा की महिमा श्रेष्ठ स्वीकारी गई है, मथुरा-मंडल अर्थात् ब्रजभूमि में गिरि-गोवर्धन कूं श्रेष्ठता प्राप्त है। गिरि गोवर्धन में यों तो सभी तीर्थ और देवता वास करें हैं, पर वामें मानसी गंगा श्रेष्ठातिश्रेष्ठ कही गई है। या मानसी गंगा को श्रेष्ठ पर्व दिवारी को दीपदान है। कातिक बदी अमावस्या के दिन जब मानसी गंगा के तट पै, अटा-अटारिन पै, चौक-चौबारिन पै, गली-गलियारन पै, द्वार-दीवारन पै, लक्ष-लक्ष दीपन की उजियारी ज्योतित होत है तो वाकौ प्रकाश भूतल ते स्वर्ग लोक तक छाय जाय है। वाकौ नाम का है, यों तो-देस-देसान्तर में सबई जगै दिवारी मनाई जाय है, पै मानसी गंगा जैसी दिवारी तौ अखिल भुवन और तीनों लोकन में कहूं देखी-सुनी नाय गई है। जे हमें कन्हैया के गोधन पूजा की याद दिबावै है। याही दिना नंद-नंदन भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने इन्द्र की पूजा कौं मैटिकैं गोवर्धन की पूजा ब्रजवासिन सूं कराई और दीपदान कियौ। पांच हजार बरस तैं ता पूजा और दीपदान को क्रम आज लौं तैसौ ही चलौ आवत है।"

काशी में जैसे असि घाट है वैसे ही मथुरा में भी जमुना के एक घाट का नाम

असि-कुण्ड (असकुण्डा घाट) है। यहां पर प्रायः प्रतिदिन कोई न कोई कथा-प्रसंग चलता ही रहता है। देश का शायद ही कोई प्रसिद्ध कथावाचक ऐसा रहा हो, जिसने यहां आकर कथा न बांची हो। अब से कोई पचास वर्ष पूर्व हमने दीपावली की यह कथा एक अस्सी वर्षीय वृद्ध पण्डित के मुख से सुनी थी। प्रभु की कृपा से हमारी स्मरण-शक्ति शुरू से ही तेज रही है। आज भी वह बहुत कुछ कायम है। पंडित जी ने आगे कहा था—'दिवारी को महात्तम पुराणन में नाना प्रकार सूं वर्णित भयो है। पद्म, ब्रह्माण्ड, विष्णु, वाराह, आदि पुराणन में, धर्म-ग्रंथन में और तंत्र-शास्त्रन में हू दीप, दीपदान, दीपावली के बहु बिधि वर्णन भये हैं। तंत्र-विद्या में तो अनेक प्रकार के दीपन के भेद गिनाये गये हैं। लिख्यौ है—

दीपो ज्योति परब्रह्म, दीपोज्योति जनार्दनः।
दोपोज्योति तमोहारी, दीपः सर्व सुखः प्रदः॥

जब वामनावतार भयो और विष्णु भगवान ने छल करके राजा बलि सों तीनों लोक लै लयै तो देवतान के मन में आनन्द को सागर उमड़ आयौ। जब बौने वामन ने इन तीनों लोकन को राज देवेन्द्र इन्द्र को सौंप दियौ तो देवलोक में घी के दीपक जरि उठे और सुर-वृन्द ने दिवारी मनाई। याही समय के बीच में, वाकौ नाम का है, राजा बलि ने भगवान सों ऐसे कह्यौ—

तस्मादेवत् बले राज्यमस्तु} घसुवयं तुमे,
मद्राज्ये दीपदानन्तु भुवि कुर्वन्ति मानवाः।
तेषां गृहे तवस्त्रीयं सदा तिष्ठतु सुस्थिरां॥"

पंडित जी ने कथा में आगे वताया—"या दीपावली कौ पूजन प्रदोष के समय करनो चाहियैं—ततः प्रदोष समये पूजये दिन्दिरां शुभाम्। दीपदानं ततः कुर्यात् प्रदोषे च तथौल्मकम्॥ भ्रामयेत स्वस्य शिरसि सर्वारिष्ट निवारणम्। यौं तो पूरे कातिक महीना दीपदान करवे कौ महात्तम है पै धनतेरस, रूपचौदस अर्थात् छोटी दिवारी और कातिक वदी मावस कूं हस्त, चित्रा एवं स्वाती नक्षत्रन के समय भगवान केशव मधुसूदन के प्रसन्नार्थ जो दीपदान करैं हैं वे या जीवन में नाना प्रकार के सुखन कूं भोग के अन्त में स्वर्ग-सुखन कूं लाभ करैं हैं, या में संशय नहीं माननौ।"

कथा का समापन करते हुए पंडितजी ने अन्त में एक शास्त्रीय पुट और दिया—"अमावस के दिन लक्ष्मीपूजन के समय दीपदान की ज्योति नारायन की प्रसन्नता के हेतु ही करी जाय है। शास्त्रन में ऐसौ उल्लेख आवै है के जब समुद्र-मंथन भयौ तो तेरस के दिन महाराज धनवन्तरी और अमावस के दिन समुद्र के गर्भ ते लक्ष्मी जी प्रगट भईं। मधु दैत्य को हूं बध भगवान मधुसूदन ने इन्हीं दिनन में कियौ हतौ। महाभारत में लिख्यौ है कै कंस के ससुर जरासंध कौ बध कंस निकन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द ने छोटी दिवारी अर्थात् कातिक बदी चौदस कूं

घर-घर मंगलचार एकरस हरषित रंक गनी।
तुलसिदास कल कीरति भावहि जो कलिमल समनी।

तो आइए अब अयोध्या से व्रज की ओर चलें। आपको यदि वैभव की दीवाली देखनी है तो बम्बई जाइए। एक सैकण्ड में साबरमती के तट पर छूटने वाले दस पटाखों के शतघा धमाकों के बीच महालक्ष्मी के आवाहन के लिए पूरी रात अपलक जागरण करना है तो अहमदाबाद का टिकट कटाइए। अगर जागरण का यह अनुष्ठान पूरे पखवाड़े चलाना है तो पंजाब प्रदेश का पर्यटन कर डालिए। यदि आपका आयोजन त्रिदिवसीय हो तो दिल्ली तशरीफ ले आइए। यदि आप भगवान की आद्या शक्ति महाकाली के उपासक हैं तो भारत के पूर्वांचल में पधारिए। यदि आपका मन साहित्यानुरागी है, पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में अब भी कला और संस्कृति आपके मन में शेष रह गयी है और नाचता-गाता, खेलता-खाता भारत का जन-जीवन आपको गंवारू नहीं लगता तो आइए व्रज में आपका स्वागत है। विश्वास रखिए, आप अकेले नहीं होंगे। भयंकर वर्षा, बाढ़, मलेरिया, जूड़ी-ताप, हैजा, बिसूचिका आदि की चिन्ता न करते हुए कम-से-कम एक लाख व्यक्ति अभी-अभी नंगे पैर चलते, आकाश की छत के नीचे सोते, अपने हाथ से खाते-पकाते, गाते-नाचते, कथा-कीर्तन सुनते-करते व्रज चौरासी कोस की यात्रा सम्पन्न कर चुके हैं। इनमें गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, पंजाब और कश्मीर सभी जगह के, सभी वयों के, विभिन्न भाषा-भाषी लोग थे। ये लोग रात में किसी सरोवर या पुराने वन के निकट ठहरते, प्रातः होते ही चल देते। यह चला-चली पूरे डेढ़-दो महीने तक रही लेकिन गिरि गोवर्धन के आस-पास के पड़ावों में ये पूरे एक पखवाड़े रमी रही। इस समय मथुरा में इन असंख्य यात्रियों के दल के दल, राजाधिराज द्वारिकाधीश की दीवाली और अन्नकूट के दर्शन कर रहे हैं। आप भी थोड़ी देर के लिए अपने पलक कपाट मूंद-कर इन दिव्य दर्शनों का आनंद लाभ करें।

'कृष्णस्य भगवान स्वयं'। वह पूर्ण पुरुष हैं। पर ब्रह्म परमेश्वर हैं। 'ऐको-देवः देवकी पुत्रे व' वही गोकुल के ग्वाला हैं और वही राजाधिराज द्वारिकाधीश भी हैं। मथुरा के जगत-सेठ लक्ष्मीचंद्र जी ने बीच शहर में एक भव्य मंदिर का निर्माण कराकर यहां द्वारिकाधीश के रूप में इनकी स्थापना की है। दीवाली के दिन द्वारिकाधीश जी का राजसी श्रृंगार होता है। आज द्वारिकाधीश श्वेत जरी के शुभ्र वस्त्र धारण किये हैं। उनके श्रीमस्तक पर श्वेत जरी की कुलह (एक प्रकार की पगड़ी) और उस पर पन्ना-मानिक के त्रवल जड़ाऊ गोठी और पान शोभायमान हैं। आज भगवान ने २१ मोर के पंखों का जोर धारण किया हुआ है। श्री हस्त में हीरा के कड़े, मानिक की पहुंची, हथफूल और मुंदरी देदीप्यमान हैं। श्रीकंठ में हीरों का पाटिया और कौस्तुभ मणि कंठमाला, हांस, हमेल, हीरा,

माणिक के हार सुशोभित हैं। प्रभु के चरणारविन्द नूपुर, गुजरी, पपान, अनवट-बिछिया आदि से अलंकृत हैं। राजाधिराज के अंग-अंग पर रत्नराशि बिखरी हुई है। इनके एक हाथ में शंख है, दूसरे में चक्र, तीसरे में गदा और चौथे में पद्म शोभायमान है। नाक की नकबेसर और ठोड़ी पर जड़ा हुआ दुर्लभ हीरा सैकड़ों हाथ की दूरी से दमदमाता दिखाई पड़ रहा है। मुखिया जी आरती कर रहे हैं। इस आरती के प्रकाश में रत्नाभूषणों की द्युति शत-शत नक्षत्रों की प्रभा को धरती पर उतार रही है। घंटा, शंख, मृदंग झालर आदि विविध बाजने बाज रहे हैं। सामने कीर्तनिया-समाज अत्यंत सुमधुर कंठ से महाकवि सूरदास का यह पद सामूहिक स्वरों में प्रस्तुत कर रहा है—

आजु दीपति दिव्य दीपमालिका।
मनहु कोटि रवि चंद्र कोटि छवि विमल भई निशि कालिका।
गोकुल सकल चित्र मणि मंडित शोभित झाल झमालिका।
गज-मोतिन के चौक पराय बिच बिच लाल प्रबालिका।
पहर सिंगार बनी राधा जू संग लिए ब्रजबालिका।
झलमल दीव समीप सोंज भर कर लै कंच थालिका।
पाये निकट मदनमोहन पिय मनो कमल अलि मालिका।
आपुन हसति हंसावति ग्वालिन पटक-पटक कर तालिका।
नन्द भवन आनन्द बढ़यौ अति देखत परम रसालिका।
'सूरदास' कुसुमन सुर बरखत कर अंजुलि पुटमालिका।

सूरदास जी ने जहां नन्द-भवन की दिव्य दीपावली की दीप्ति को अपने पद में मुखरित किया है वहां अष्टछाप के एक अन्य कवि कुंभनदास जी ने लोक मंगल से युक्त दीपावली के दीपों की सुन्दरता को लोक रस के पुट के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

देखौ इन दीपन की सुघराई।
मानो घन विधु-मंडल राजत तमनिशि परम सुहाई।
नन्दराय अगणित पांती रचि अद्भुत युक्ति बनाई।
विविध सुगंध आदि दे घृत परिपूरणताई।
घर घर, मंगल होत सबन के उर आनन्द न समाई।
'कुंभनदास' प्रभु धेनु खिलावत-गिरिधर सब सुखदाई।

ब्रज में दीपावली के अवसर पर गायों को खेल खिलाने की पुरानी परम्परा है। खिरकों में बंधी हुई गायों को उनके बछड़े दिखा-दिखाकर बुलाया जाता है। ये गायें अपने बछड़ों से मिलने के लिए हूक-हूक कर दौड़ी आती हैं। ही-ही शब्द करते हुए ग्वाल-वाल उन्हें लेकर इधर-उधर भागते हैं। गायें भी उनके पीछे पूंछ उठा कर गले में बंधी घंटियों को घन-घनाकर, पैरों में पहनी हुई पैंजनियों को

ठुमकाकर पीछे-पीछे दौड़ती हैं। ग्वाल नाचते हैं तो गायें भी अपने आगे वाले पैर उठाकर नाचने लगती हैं। ये दृश्य आज भी जहां-तहां ब्रज के गांवों में देखने को मिल जाते हैं। लेकिन गोवर्धनधारी गोपाललाल की धेनु खिलावन-लीला तो सच-मुच ही अत्यंत अलौकिक थी। ब्रज के कवियों ने इस लीला पर सैकड़ों पद्य रचे हैं। सम्राट अकबर की सीकरी के वैभव को तिरस्कृत करने वाले लीला-रसिक कुंभन-दास का एक पद्य देखिए—

गाय खिलावत श्याम सुजान।
कूकैं ग्वाल टेर दे ही ही, बाजत बैंणु विषाण।
कियो सिंगार धेनु सगरिन को कौ करि सकै बरवान।
फिर-फिर फिरत पूछ उन्नत ह्वै कर कर सीधे कान।
पांय पैंजनी मंहदी राजत, पीठ पुरट के पान।
'कुंभनदास' खेली गिरिधर पैंजिंहि विधि विधि उठी उठान।

कुंभनदास जी ठेठ ब्रज कवि थे। इनके घर में खेती भी होती थी और गाय-बछड़े भी थे। यह ब्रज के लोकरस और लोकरीति के अद्‌भुत गायक थे, किन्तु नन्ददास जी और परमानन्ददास जी अपेक्षाकृत साहित्य-सम्मत रचनाएं लिखते थे। अष्टछाप के कीर्तनकारों में परमानन्ददास का विशिष्ट महत्व है। श्रीकृष्ण की अपनी प्रिय गाय 'धूमिर-धारी' थी। उसे गोपाल ने कैसे खिलाया। इसका सजीव चित्रण परमानन्द दास जी ने इस प्रकार किया है—

सब गायन में धूमर खेली।
श्रवण पूछ उचकाय सूधी ह्वै, ग्वाल भंजावत फिरत अकेली।
पकरि लई गोपाल आप ही कंठ बनावत सेली।
चुंबत मुख आकों भरि भेंटी, टेर कहत लाऔ गुर मेली।
आपु गुपाल खवाय खिलावत, सब गायन को हेली।
'परमानन्द' देखे बनि आवै, जब घौरी की बछिया झेली।

दीपावली के अवसर पर नन्द के लाला राधा जी के साथ सार-पांसे भी खेलते हैं और माता यशोदा के कहने पर बलदाऊ के साथ घर में ही द्यूत-क्रीड़ा भी करते हैं अन्य गोपो के साथ गायों के कान भी जगाते हैं, यानी गायों के कान में जाकर कहते हैं कि कल मैं तुम्हारे साथ खेलूंगा, तैयार रहना। लेकिन इस अवसर पर सबसे अधिक महत्त्व नन्द-नन्दन के हटरी में विराजने का होता है। दीवाली के पूजन के अवसर पर आज भी घर-घर में हटरियां रक्खी जाती हैं। इन्हें खील-बताशों और मेवा-मिष्ठानों से भरा जाता है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण गोवर्धन की पूजा के लिए हट पकड़ करके एक बारहदरी में जा बैठे। यह बारहदरी ही बाद में 'हटरी' के रूप में प्रचलित हुई। किन्तु हमारे विचार से हटरी शब्द 'हाट' से संबंधित है। दीवाली के अवसर पर कृष्ण-काव्य में भी आजकलके 'फेट'

(मेंठ) की तरह दीवाली मेला लगता था जहां अपने-अपने घरों से लोग सौदा-सामान बनाकर लाते थे और उन्हें गोपी-ग्वाल खरीदकर ले जाया करते थे। दीवाली की 'हाट' की दुकानें हटरीनुमा हुआ करती थीं जो नाना प्रकार के पकवान और सामग्री से सुसज्जित की जाती थी, उसी को आज धन-धान्य से भरे हुए घर के प्रतीक के रूप में दीवाली के दिन पूजा जाता है। आज भी दीवाली के मेले पर ब्रज के नगरों और कस्बों में इस प्रकार की हाट और हटरीनुमा दुकानें देखी जा सकती हैं। यदि हमारे कथन को कल्पना माना जाय तो क्षमा कीजिए, यह कल्पना हमारी नहीं, हिन्दी के प्राचीन कवि रसिक प्रभु की है। उन्होंने लिखा है—

लाज माई बैठे राजत हटरी।
रानी जू साज संभार धर्यौ बलराम कृष्ण के वटरी।
लडुआ, गूंजा, पकवान, बहुत कर-भर भर थार धरी हैं मठरी।
गृह-गृह तें गोपी सब आईं भीर भई तह ठटरी।
तोल तोल और देत सबन कों भाव अटल कर राख्यो अटरी।
'रसिक प्रभू, के नयनन लागी श्री वृषभान कुंवरी की रटरी।

ऐसा लगता है कि दीवाली के इस मेले में ग्वाल माल बेचते थे और ग्वालिनें खरीदा करती थीं। मुगलकाल में आगरे के किले में लगने वाला मीना बाजार भी शायद इसी प्रथा का विकृत रूप है। जो भी हो इस अनुरागमय प्रेम-व्यापार की ललित लीला का वर्णन ब्रज के कवियों ने बड़े विशद रूप में किया है। राधा-कृष्ण के अंतरंग प्रेम की एक झांकी का दृश्य इस पद में देखिए—

दीपदान दै हटरी बैठे बड़ो पर्व है आज दिवारी।
चहुं दिशि पांति बनी दीपन की, यसुमति अपने हाथ संवारी।
दिव्य कपूर सुगंध आदि रचि, घृत सुरभी कौ जोति उजारी।
पकवान बहुत कर थार भर धरे, लड़ुआ, गूंजा, फैनी सुहारी।
बनज करेंगे भान कुंवरि सौं मन में फूले कुंवर गिरिधारी।
घर-घर तें ब्रजनारी निकसीं, नवल किशोरी तरुणीबारी।
ललिता प्रभृति मुख्य श्रीराधा, गावत मंगल शब्द उचारी।
मिल आंई ब्रजराज धरनिधर एक तें एक सुभग सुकुमारी।
नाचत खेलत करत कुतूहल, प्रेम मगन ह्वै आनंद भारी।
कहो लाल का सौदा देहैं चंद्रावलि मुख मुसकि निहारी।
पूरौ तौलौ, रूट न खैहों, संतमेंत नहि लाल बिहारी।
देख देख फूलत नन्दरानी अति उछाह नौछावर वारी।
मन भायौ दीयौ सबहिन कौं परम उदार गोवर्द्धन धारी।
'रसिक' प्रभू प्रिय तुम चिरजीवौ, सहचरी बार-बार बलिहारी।

वास्तव में दीवाली ब्रज का बड़ा पर्व है। इसकी तैयारी यहां दशहरा से ही प्रारंभ हो जाती है। रंग-रोगन-सफेदी और सजावट तो देशभर में होती है, लेकिन ब्रज की तैयारी का अर्थ दूसरा है। ब्रज की संस्कृति भोग और राग में हैं। ब्रज में पर्व का अर्थ ही उमंगपूर्ण गायन और दिव्य भोजन का है। ब्रज में दीवाली पर दिये ही नहीं जलते वरन् विविध प्रकार के पकवान भी बनाये जाते हैं। इन्हीं की तैयारी दशहरा से प्रारंभ हो जाती है। दीपावली के समापन-समारोह के लिए अनेक प्रकार के व्यंजन बनने लगते हैं। आज के अतिथि नियंत्रण कानून और मंहगाई के दिनों में अन्नकूट की कल्पना करके ही फिलहाल संतोष कर लीजिए। कृष्ण-काव्य में इस दिन इतना चावल बना था कि जिसको देखकर सूरदास गा उठे थे कि 'लग्यौ भात को कोट, ओट गिरिराज छिपान्यौ'। तब की तब गई। आज की दूध-धर, अन्नसकरन, सकरन, चार प्रकार की दालें, चार प्रकार की कड़ी, आठ प्रकार के साग, पांच तरह के भात और तलातली भगवान् को भोग धराये जाते हैं। दूध-धर में बादाम, पिस्ता, मखाने की बरफी, कूटू की सामग्री और नाना प्रकार के व्यंजन सिद्ध किए जाते हैं। अन्नसकरन में घेवर, बाबर, गुड़ कै-खोआ के भुजात व पूड़ी और पांच तरह के मगद, खुरचन, बड़ा, चन्द्रकला, मैसूर आदि व्यंजन बनाये जाते हैं। सकरन में उस दिन पांच तरह के भात जैसे मेवा भात, खट्टा भात, सकरन भात, ब्रंच भात और सादा चावल होते हैं। तलातली में पापड़, सेब, चना, दाल और कचड़ी बनती हैं। इस दिन सकरन का विशेष महत्व होता है। चावल का पोत इतना ऊंचा होता है कि दूसरा गिरिराज ही समझिए। इसमें पांच पुट होते हैं। चार चारों कोनों पर और एक बीच में। इन चारों में विष्णु भगवान की भुजाओं के चिह्न—शंख, चक्र, गदा और पद्म बने होते हैं। बीच में एक गोलाकार चांद जैसा चिह्न बनाया जाता है। उसे तुलसी और केशर से सजाकर अत्यंत शोभायमान बना दिया जाता है। एक ओर जल की और दूसरी ओर घी से भरी हांड़ी रखी जाती है। यह है भगवान का दिव्य अन्नकूट भोग जो पहले ग्वाल-बालों और भक्तों में वितरित किया जाता था, परन्तु आज सर्व-साधारण के लिए बाजारों में बेचा भी जाता है।

अभी तक हमने ब्रज के मन्दिरों में मनाई जाने वाली वल्लभसम्प्रदायी दीवाली का वर्णन किया। पिछले पांच सौ वर्षों से चली आती मन्दिरों की यह परम्परा अब ब्रज के घर-घर में व्याप्त हो गई है। ब्रज का तो प्रत्येक घर ही अपने आप में एक मन्दिर है। इसी को लक्ष्य करके भक्तिमती मीराबाई ने कहा था—'घर-घर तुलसी ठाकुर-सेवा दर्शन गोविंद जी को। आली म्हानै लागै वृन्दावन नीकौं। भक्तिकाल से रीतिकाल तक आते-आते हमारी दीवाली का रूप भी कवियों की दृष्टि में कुछ और ही हो गया। इन्होंने दीवाली से कुछ और ही मंत्र लिया। तांत्रिकों के अनुसार दीवाली की रात को जागकर तांत्रिक क्रियाएं की

जाती हैं और मंत्र जगाये जाते हैं। हमारे ब्रजभाषा के कवियों ने भी राधा-कृष्ण को माध्यम बनाकर अपने मन के मंत्र जगाए हैं। उसकी एक बानगी कवि 'शशिनाथ' के शब्दों में यहां दी जाती है—

'चारु निहार तरैयन की दुति, लाग्यौ महा बिरहा तन तावन।
है 'ससिनाथ' कहा कहिए, जिन सौ लगि नैन ही कंज से पावन।
बीच दुकूल के फूलन लै, अलबेली के प्रेम कौ सिंधु बढ़ावन।
कान्ह दिवारी की रैन चलै, बरसाने मनोज कौ मंत्र जगावन।

इसबार की दीवाली में आप कौन-सा मंत्र जगायेंगे? परिश्रम करके लक्ष्मी कमाने का या कमाई हुई लक्ष्मी को गंवाने का? भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला, भाषा के दीपकों को स्नेह देंगे या उनकी उपेक्षा करके राशन में प्राप्त मोमबत्तियों के टिमटिमाते प्रकाश में दूसरों के कान बहरे कर देने वाले पटाखे फोड़ेंगे? आपकी आप जानें, हमें तो आज के दिन कतील शिफ़ाई का यह सुखन रह-रहकर याद आ रहा है—

दीपमाला की यह बेचैन बिलखती हुई रात,
इसके दामन में मेरे अश्के-रवां पलते हैं।
हम सफर कोई नहीं है मेरी तन्हाई का,
चंद साये हैं जो हमराह मेरे चलते हैं।
डबडबाई हुई आंखें है सावन की झड़ी,
और दिल में मेरे यादों के शजर फलते हैं।
देख मैंने भी मनायी है यहां दीवाली
मेरी पलकों पै भी अश्कों के दिये जलते हैं।

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।



व्यास जी के व्यक्तित्व के कई रंग हैं। वह हिन्दी की राष्ट्रीय धारा के मान्य कवि हैं, सुलेखक हैं और वरिष्ठ पत्रकार हैं। व्यंग्य-विनोद के क्षेत्र में तो इनकी रचनायें आसेतु हिमालय तक ही नहीं, विश्व की कई भाषाओं में अनूदित होकर चतुर्दिक व्याप्त हुई हैं।

व्यास जी की लोक और साहित्य में प्रतिष्ठा का कारण उनका ब्रजवासी होना ही है। आप ब्रज भाषा और ब्रज साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं। ब्रज की ललित कलाओं और लोकरंजक संस्कृति के साथ आपका गहरा तादात्म्य है।

आपका जन्म संवत् १९७२ वि० में उस स्थान पर हुआ, जहाँ महाकवि सूरदास ने अपनी इहलीला समाप्त की। आप स्व० पण्डित पद्म सिंह शर्मा और स्वर्गीय जगन्नाथ दास रत्नाकर के गुरु-भाई हैं। ब्रज-भाषा साहित्य का अध्ययन मथुरा में किया और खड़ी बोली का आगरा में। पिछले सैंतीस वर्षों से भारत की राजधानी दिल्ली में रहकर हिन्दी भाषा, साहित्य और पत्रकारिता की सेवा कर रहे हैं। व्यास जी का कहना है कि ब्रज की सेवा ही मेरे लिये भारत माता की सेवा है। हिन्दी की सेवा भी मैं प्राचीन ब्रज साहित्य और संस्कृति की समुन्नति के लिए करता हूँ। मेरे व्यंग्य-विनोद में जो मस्ती और चुस्ती है, उसका श्रेय भी ब्रज के लोक जीवन और लोक साहित्य को ही है।

